सप्तक्रम

दत्तोपन्त ठेंगड़ी

सप्तक्रम

सप्तक्रम

दत्तोपन्त ठेंगड़ी

सुरुचि प्रकाशन
केशव कुञ्ज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली-११००५५

प्रकाशक :

सुरुचि प्रकाशन
(सुरुचि संस्थान का प्रकाशन विभाग)
केशव कुञ्ज, झण्डेवाला,
नयी दिल्ली-११००५५

© लेखक

प्रथम संस्करण : अक्टूबर १९८४

मूल्य : १८ रुपये

मुद्रक :
दुर्गा मुद्रणालय
५४, सुभाष पार्क एक्सटेंशन,
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

चिन्तन-प्रक्रिया

विचारधारा

उसके प्रकाश में

हमारा अन्तिम लक्ष्य

उसके प्रकाश में

हमारे तात्कालिक उद्देश्य

उनके प्रकाश में

नीति

उसके प्रकाश में

रणनीति

उसके प्रकाश में

रण-युक्ति

उसके प्रकाश में

तात्कालिक कार्यक्रम

प्रकाशकीय निवेदन

भारत जीवन के प्रति समग्रता की दृष्टि रखता है। यहाँ राष्ट्र या समाज का कोई भी अंग सम्पूर्ण से विलग होकर नहीं चल सकता। यही कारण है कि पश्चिम के एकांगी दृष्टिकोण से जन्मे श्रमिक आन्दोलनों के साथ पग से पग मिलाकर चलने का प्रयत्न भारतीय श्रमिकों के लिये एक अटपटा अभ्यास बनकर रह जाता है।

पश्चिमी श्रमिक आन्दोलन का दर्शन, और तो और, किसानों को भी सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देख सकता। 'सर्वहारा की तानाशाही' का नारा लगाने वाले कार्ल मार्क्स ने किसान की बुद्धि उसके बैल के बराबर बताते हुए किसानों की तुलना आलू के बोरों से की।

इसके विपरीत, भारतीय श्रमिक तो आजीविका के लिये गाँवों से नगरों में आये हुए कल तक के किसान ही हैं। हृदय से वे आज भी गाँवों से जुड़े हुए हैं। गाँवों में रह गये अपने भाइयों को बैल और आलू मानने की दूषित मानसिकता भारतीय श्रमिक की कदापि नहीं हो सकती। न ही वह कम्यूनिस्टों की भाँति राष्ट्र की अर्थ-सम्पदा के प्रश्न पर सरकार को समाज का पर्याय मान सकता है। सर्वेश्वर का प्रतिनिधि वह समाजरूप विराट् को ही मानता है, सरकार को नहीं।

इसी कारण, जाने-माने विचारक एवं श्रमिक-नेता श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी के मार्गदर्शन में एक प्रबल भारतीयतावादी श्रमिक आन्दोलन यहाँ उठ खड़ा हुआ है, जो न केवल समस्त श्रमशील उत्पादक वर्ग को, अपितु उपभोक्ताओं को भी अपने भाई मानते हुए अनावश्यक बिचौलियों के शोषण से सबकी मुक्ति में सहभागी बनने और सारे समाज को एकात्मता के सूत्र में पिरोने में विश्वास रखता है। 'देश का औद्योगीकरण, उद्योगों का श्रमिकीकरण और श्रमिकों का (भारतीय) राष्ट्रीयकरण' भारतीय मजदूर संघ का उद्घोष है। वह श्रमिक-हित के माध्यम से सबके हित का आकांक्षी है।

यह पुस्तक श्री ठेंगड़ी द्वारा सामान्यतः समस्त देशवासियों के विचार-हेतु और विशेषतः भारतीय मजदूर संघ के सदस्यों तथा कार्यकर्त्ताओं के मार्गदर्शन-हेतु विविध विषयों पर समय-समय पर व्यक्त विचारों का संकलन है। श्रमिक-हित को राष्ट्र-हित से जोड़कर चलने वाले भारतीय श्रमिक आन्दोलन की सप्त सोपानों में सम्पन्न होने वाली चिन्तन-प्रक्रिया इसकी एक अतिरिक्त विशेषता है।

आशा है, यह पुस्तक हिन्दी विचार-कोष में एक महत्त्वपूर्ण योगदान सिद्ध होगी।

अनुक्रमणिका

चुनौती	६
उपभोक्ता-संरक्षण	११
सहकारिता पर कुछ विचार	१६
भारतीय मजदूर संघ तथा सम्पूर्ण क्रान्ति	३०
राष्ट्रीय पुर्नर्निर्माण की विचारधारा	३३
मार्क्स और मार्क्सवाद के बारे में	३७
इस्लाम और कम्यूनिज्म की पटरी नहीं बैठती	४७
संगठनात्मक स्वरूप : कम्युनिस्ट तथा भारतीय	५४
भारतीय विचार-केन्द्र में उद्घाटन-भाषण	५६
अन्तिम रूपरेखा नहीं, केवल दिशादर्शन	६४
भारतीय प्रौद्योगिकी	८१
राष्ट्रीय सामाजिक नीति	६३
कहाँ से—किधर—कैसे	१०६
हमारे प्राचीन राज्य के आर्थिक दायित्व	११७
हिंसा के द्वारा सामाजिक परिवर्तन ?	१२०
समितियाँ और सूचियाँ किसलिये ?	१२३
मजदूर संघ आन्दोलन को विस्तृत आधार चाहिए	१२६
मजदूर संघ आन्दोलन का रचनात्मक नेतृत्व	१३४
आपके प्रश्न : हमारे उत्तर	१३६
भारतीय मजदूर संघ का प्रतीक	१५४
चिन्तन-प्रक्रिया	१५६
सन्देश	१७०

चुनौती

ऐसा लगता है कि अपनी स्थापना के पच्चीस वर्ष बाद भारतीय मजदूर संघ इस समय परीक्षा की कठिन घड़ी से गुजर रहा है।

भारतीय मजदूर संघ अब पर्याप्त सक्षम हो चुका है। सभी सम्भव कठिनाइयों के उपरान्त वह अपने संगठन के हित का संरक्षण एवं संवर्धन कर सकता है। इस बारे में संशय की लेशमात्र सम्भावना नहीं है।

परन्तु हमारे लिये यह पक्ष कभी भी विशेष चिन्ता का विषय नहीं रहा है। हम कभी भी संस्थाकरण के चक्कर में नहीं पड़े। हमने भारतीय मजदूर संघ को कभी भी केवल साध्य नहीं माना है, वरन् उसे सदा ही श्रमिकों एवं राष्ट्र की सेवा में रत एक प्रभावी साधन के रूप में देखा है।

और आज ये दोनों पक्ष तीव्रता से महाविपत्ति के गर्त की ओर बढ़ रहे हैं, यद्यपि उसके कारण भिन्न हैं। और यद्यपि भारतीय मजदूर संघ की वृद्धि दर स्वयं में प्रशंसनीय है, फिर भी वह इन दोनों मोर्चों पर अवनति की दर से पिछड़ रहा है।

यह भी सच है कि विभिन्न क्षेत्रों के विषय में केन्द्रीय सरकार की नीतियाँ अभी तक किसी निश्चित परिपक्व अवस्था में नहीं पहुँची हैं। सभी निर्णय अधर में लटके हैं और तदर्थवाद का मुँह जोह रहे हैं।

किन्तु अब तक जो प्रवृत्ति सामने आयी है, वह नितान्त क्षोभकारी है। वह निश्चित रूप से धनी का पोषण और निर्धन का शोषण करने वाली है। सरकार और पूँजीपतियों का अपवित्र गठबन्धन अब एक ठोस वास्तविकता बन चुका है। हाल ही की अभूतपूर्व महँगाई तो इस गहरे नासूर का मात्र एक बाह्य लक्षण है। इससे बड़ी लज्जा की बात क्या हो सकती है कि आशा के विपरीत सरकार ने इतने शीघ्र देशी तथा विदेशी पूँजीपतियों के आगे घुटने टेक दिये हैं।

इस चुनौती का एकमात्र मुँहतोड़ उत्तर है अखण्ड मजदूर संघ एकता।

राष्ट्रीय परिदृश्य पर तो किसी से कुछ छिपा नहीं है।

हमारा पूर्वोत्तर क्षेत्र लपटों से घिरा हुआ है। हमारी पश्चिमोत्तर सीमा से परे अन्तरराष्ट्रीय ज्वालामुखी कभी भी फट सकता है। चारों ओर विघटनकारी प्रवृत्तियाँ बल पकड़ती जा रही हैं। बात-बात में संकोची सरकार ने भी अब यह

स्वीकार कर लिया है कि हमारे देश में विदेशी 'एजेण्ट' सक्रिय हैं। अभी तक इस बात की पूरी थाह नहीं लग सकी है कि उनके उत्पात अथवा उनकी घुसपैठ की गहराई कितनी है। विधि एवं व्यवस्था की स्थिति दिनोंदिन बिगड़ती जा रही है। हम एक गम्भीर आर्थिक संकट के भँवर में फँस चुके हैं। 'कर के दिखाने वाली' सरकार कुछ भी नहीं कर पा रही है। लोगों का विश्वास प्रशासन पर से उठता जा रहा है। श्रीमती गाँधी के हाथ से उनका दल, नौकरशाही तथा जनता निकलती जा रही है। हम अव्यवस्था के नागपाश में फँसते जा रहे हैं। इस पर कोढ़ में खाज कुछ विदेशी शक्तियाँ हमारे सुदृढ़ राष्ट्र को खण्ड-खण्ड करने की ताक में हैं।

हमारी राष्ट्रीय सुरक्षा एवं अखण्डता पहले से भी अधिक संकट में है।

विनाश का विकराल दानव मुँह बाये खड़ा है। अखण्ड राष्ट्रीय एकता ही देश को उससे बचा सकती है।

इस सम्बन्ध में सरकार उदासीन है।

टूटते हुए रोमन साम्राज्य के सीनेटरों की भाँति हमारे शासकों को अपने निजी तथा दलगत स्वार्थों की चिन्ता है। देश के भविष्य की उन्हें क्या चिन्ता ?

देशभक्त श्रमिक विचित्र धर्म-संकट में हैं। क्या हम अपनी साठ प्रतिशत जनता की शोचनीय अवस्था से आँख मूँद सकते हैं ? उन्हें सामाजिक न्याय दिलाने का दायित्व हमारा है। क्या हम उससे डिग सकते हैं ?

कदापि नहीं।

पुनश्च—

क्या हम अपनी राष्ट्रीय एकता को खण्डित होते हुए देख सकते हैं ?

कदापि नहीं।

तो हमें क्या करना होगा ?

केवल एक ही मार्ग है और वह है—संयुक्त श्रमिक संघ आन्दोलन की अनुशासन-बद्ध टक्कर।

यह तो हमारा तात्कालिक लक्ष्य होना चाहिए। राष्ट्र को भारतीय मजदूर संघ से बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। उसे इस कठिन घड़ी में श्रमिक वर्ग को समुचित नेतृत्व प्रदान करना चाहिए।

आइए, हम अपनी कमर कस लें। दैव ने हमें जो यह दायित्व सौंपा है, उसे हम प्राण-पण से पूरा करें।

उपभोक्ता-संरक्षण

भारतीय मजदूर संघ ने सदा ही उपभोक्ता आन्दोलन पर भारी बल दिया है। अपने राष्ट्रीय माँग-पत्र में भारतीय मजदूर संघ ने देश के सामाजिक-सांस्कृतिक नेताओं के लिये इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कर्तव्य तथा नियम विहित किये हैं —

उपभोक्ता के हित में

इस तथ्य को स्वीकार करना कि उपभोक्ता-हित राष्ट्रीय हित का निकटतम आर्थिक पर्याय है।

समाज में उपभोक्ता-चेतना जागरित करना।

उपभोक्ता-मंचों का संगठन करना, जो उपभोक्ताओं को उनके हितों से सम्बन्धित सभी विषयों के बारे में अनवरत शनैः-शनैः शिक्षित करते रहें। इनके अन्तर्गत देश के औद्योगिक क्षेत्र की वर्तमान स्थिति भी आ जाती है।

बहुधा उपभोक्ता-सम्मेलनों के माध्यम से जनमत तैयार करना ताकि जब भी आवश्यक हो, सरकारों, व्यापारियों अथवा औद्योगिक सम्बन्धों के विभिन्न सह-भागियों पर समुचित दबाव डाला जा सके।

उपभोक्ता-प्रतिरोध तथा उपभोक्ता-हड़ताल संगठित करना जिसके दौर में वे उपभोक्ता-विरोधी नीतियों का अनुसरण करने वाले किसी भी कारखाने का उत्पाद खरीदने से इनकार कर सकेंगे।

स्वस्थ निजी आदतों और स्वदेशी भाव को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से उपभोग-पद्धतियों का निर्धारण तथा उनका प्रचार करना।

प्रमुख उद्योगों के लिये ग्रेट ब्रिटेन की उन दो 'कोयला उपभोक्ता परिषदों' जैसी उपभोक्ता परामर्शदातृ अथवा मन्त्रणा परिषदों की स्थापना करना, जो मन्त्री को वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करती हैं और वे उस प्रतिवेदन के साथ-साथ संसद के समक्ष रखे जाते हैं जो राष्ट्रीय कोयला-मण्डल (कोल बोर्ड) मन्त्री के पास भेजता है।

भारतीय मजदूर संघ ने उपभोक्ता-मंचों/परिषदों के लिए जो कर्तव्य निर्धारित किये हैं, वे इस प्रकार हैं :

उपभोक्ता-हित के संरक्षण एवं संवर्धन के सामान्य कर्तव्य के अतिरिक्त, विशेष रूप से उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं एवं समस्याओं के बारे में ज्ञान तथा सूचना के प्रसार का भार संभालना, खाद्य पदार्थों, औषधियों, उपकरणों, यन्त्रों तथा अन्य उपभोज्य वस्तुओं के खतरों से उपभोक्ता की रक्षा करना; अनुचित व्यापार-प्रथाओं, अर्थात् छल-कपट, अनाप-शनाप मूल्य, कम माप-तौल, नकली पैकिंग, भ्रामक विज्ञापन, सभी प्रकार की चार सौ बीसी के विरुद्ध सतर्कता, जाँच-पड़ताल, विधान बनाना आदि जैसे उपाय अपनाना और उपभोक्ताओं को, जहाँ तक हो सके, केवल उच्च कोटि की प्रमाणित वस्तु ही क्रय करने के लिये प्रेरित करना।

भारतीय मजदूर संघ इस बात को स्वीकार करता है कि उपभोक्ताओं के हितों का पूर्ण संरक्षण तभी किया जा सकता है जब विभिन्न अधिकारी तथा स्वयं-सेवी अभिकरण (एजेंसियाँ) मिलकर प्रयास करें। इस समस्या के विभिन्न पक्ष हैं और वे समान महत्त्व के हैं।

भारत में उपभोक्ता सहकार आन्दोलन अपेक्षया पुराना है, किन्तु यहाँ अभी तक उपभोक्ता की शिक्षा, संगठन, प्रतिरोध एवं संरक्षण की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। उनमें सर्वाधिक उपेक्षित पक्ष यह है कि उपभोक्ता को विधान का संरक्षण प्राप्त नहीं है।

पश्चिमी देशों में उपभोक्ता को जो संरक्षण प्राप्त है, उसकी तुलना में भारत के उपभोक्ता की दशा शोचनीय है। उदाहरण के लिये, हम देखते हैं कि ग्रेट ब्रिटेन में उपभोक्ता-जागृति का स्तर बहुत ऊँचा है; वहाँ उपभोक्ता की सहायता के लिये सरकारी तथा गैर-सरकारी अभिकरणों की देशव्यापी सुसम्बद्ध शृंखला है; वहाँ उपभोक्ता-संगठनों के करोड़ों सदस्य हैं और उनके संरक्षण के लिये प्रभावशाली वैधानिक तन्त्र है। जानकार सूत्रों से हमें सूचना मिली है कि ग्रेट-ब्रिटेन में उपभोक्ता ऋण अधिनियम, १९७४, किराये द्वारा क्रय के व्यापार के अनुज्ञापन (लाइसेंसिंग) तथा विनियमन का उपबन्ध करता है। खाद्य तथा भेषज अधिनियम, १९५५ और १९५६, पण्य विवरण अधिनियम, १९६८ और १९७२, अनुचित संविदा निबन्धन अधिनियम, १९७७ और वस्तु-विक्रय अधिनियम, १९७९ खाद्य की शुद्धता, वस्तुओं के विवरण तथा प्रस्तुतीकरण और मूल्य-सूचना से सम्बद्ध उपभोक्ता-हितों को सुरक्षा प्रदान करते हैं। माप-तौल अधिनियम, १९६३ और १९७९ इस बात का विनियमन करते हैं कि मात्रा का चिह्न हो और मात्रा सही हो। उसमें कतिपय प्रकार के पहले से डिब्बाबन्द किये गये माल के लिये औसत तौल-पद्धति की भी व्यवस्था है। उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, १९६१ और १९७१ और उपभोक्ता सुरक्षा अधिनियम, १९७८ के अनुसार सरकार को अधिकार है कि वह उपभोक्ता की सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए किसी भी वस्तु की आपूर्ति पर नियन्त्रण लगा सकती है।

इसकी तुलना में भारत की स्थिति नितान्त असन्तोषजनक है।

आये दिन देखने में आता है कि यदि उत्पादन और वितरण पर उचित नियन्त्रण न हो, बड़े-बड़े सार्वजनिक उपक्रमों के प्रबन्धकों के हाथों में शक्ति का संकेन्द्रण हो, उचित सतर्कता न हो और पर्याप्त सरकारी तन्त्र न हो तो उसके कारण आवश्यक उपभोज्य वस्तुओं और सेवाओं का कृत्रिम अभाव पैदा हो जाता है या उनकी आपूर्ति नियम से नहीं हो पाती तथा इस प्रकार उपभोक्ता कष्ट और चिन्ता की चक्की में पिसकर रह जाता है। इसका सीधा प्रभाव उपभोक्ता पर पड़ता है। उसे जमाखोरों, भ्रष्ट-व्यापारियों और नौकरशाहों के नखरे सहने पड़ते हैं। वैसे तो विभिन्न अधिनियम हैं जिनके अधीन अपराधियों पर वाद (मुकदमा) चलाया जा सकता है, यथा—आवश्यक वस्तु अधिनियम, १९५५, भेषज (नियन्त्रण) अधिनियम, १९५० आदि। पर इनके अधीन यह अधिकार केवल सरकार को प्राप्त है। उपभोक्ता का ऐसा कोई मंच नहीं है जहाँ वह अपनी व्यथा को व्यक्त करके उसका समाधान करा सके। जैसा कि ग्राहक-पंचायत के नेता कहते हैं, बड़ी-बड़ी व्यापारिक संस्थाओं की दृष्टि में उपभोक्ता की स्थिति यरूशलम के टट्टू की-सी है जिस पर वे निश्शंक होकर पूरा बोझा इस आशा से लाद सकते हैं कि वह न तो विरोध में आवाज उठायेगा और न ही रुकेगा, जब तक कि उसके प्राण ही न निकल जायें।

इस प्रसंग में उपभोक्ता के पक्ष-पोषण में संसद-सदस्य, स्वर्गीय श्री आर० के० महालगी का योगदान विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उनका उपभोक्ता परिवाद निपटान विधेयक, १९८१ कतिपय अर्थों में अनोखा था। उसमें आवश्यक वस्तुओं तथा अन्य उपभोज्य वस्तुओं और सेवाओं के उपभोक्ताओं का संरक्षण सुनिश्चित करने के लिये विशेष उपायों की व्यवस्था थी। श्री महालगी का यह दावा उचित ही था कि उनका यह विधेयक क्रान्तिकारी विधेयक था, क्योंकि समूचे देश में यही एकमात्र ऐसा विधेयक था जिसमें व्यवस्था थी कि उपभोक्ता को यह वैधानिक अधिकार दिया जाये कि वह सीधे ही न्यायपालिका का द्वार खटखटा सके। विधेयक में 'उपभोक्ता' की परिभाषा इस प्रकार है: 'ऐसा ग्राहक, जो एक घोषित मूल्य अथवा प्रभार के भुगतान पर आवश्यक वस्तुएँ अथवा अन्य वस्तु खरीदता है अथवा खरीदने का प्रस्ताव करता है अथवा किसी आवश्यक सेवा या किसी अन्य सेवा का उपयोग करता है अथवा करने का प्रस्ताव करता है।' 'परिवाद' (शिकायत) की परिभाषा इस प्रकार है : 'किसी उपभोक्ता तथा सेवा प्रदान करने वाले समवायों अथवा उपक्रमों के बीच ऐसा विवाद अथवा मतभेद, जो आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति न करने अथवा कम आपूर्ति करने से अथवा अपमिश्रण अथवा उचित मूल्यों अथवा गुणवत्ता अथवा मात्रा अथवा ऐसी सेवाएँ प्रदान करने की शर्तों अथवा निम्नलिखित अनुसूचियों में विनिर्दिष्ट विषयों से सम्बद्ध वस्तु के बारे में उत्पन्न हो —

[redacted]

अनुसूची १

१. राज्य सड़क परिवहन निगम तथा यातायात की अन्य पद्धतियाँ।
२. राज्य विद्युत् मण्डल (बोर्ड) तथा अन्य गैर-सरकारी विद्युत् समवाय।
३. नगर निगमों अथवा नगर परिषदों द्वारा प्रदत्त सेवाएँ।
४. सरकारी दुग्ध योजनाओं द्वारा दूध की आपूर्ति।
५. दुकानें, जिन पर अनाज, कपड़ा, मिट्टी का तेल, खाद्य तेल, जलाने की लकड़ी, कोयला और कोई उपभोज्य वस्तु बेची जाती हो।
६. अस्पतालों के रख-रखाव तथा उनसे सम्बन्धित सेवाएँ।
७. शिक्षा-संस्थानों को लेखन-सामग्री तथा पुस्तकों का दिया जाना।
८. मोटर गाड़ियाँ।
९. समवायों (कम्पनियों) द्वारा आपूर्ति की गयी भोजन पकाने की गैस।
१०. दूरभाष, डाक तथा तार विभागों द्वारा प्रदत्त सेवाएँ।
११. कोषागारों (बैंकों) द्वारा प्रदत्त सेवाएँ।
१२. रेलवे।
१३. बीमा निगम।

अनुसूची २

१. माप तथा तोल।
२ वस्तुओं, विशेषतः औषधों में मिलावट।
३. वस्तुओं की अपर्याप्त आपूर्ति, यथा—भोजन पकाने की गैस, मिट्टी का तेल, तेल अथवा 'राशन' की दुकानप र बेची जाने वाली कोई अन्य उपभोज्य वस्तु।
४. मोटर चालकों के कदाचार, यथा—क्षेत्रीय परिवहन प्राधिकारियों द्वारा निर्धारित अर्घ (रेट)-सूची का पालन न करना।
५. व्यापारियों द्वारा माल की जमाखोरी तथा माल की आपूर्ति न करना या अपर्याप्त आपूर्ति करना।
६. वस्तुओं की आपूर्ति, उनकी आपूर्ति न करने अथवा अपर्याप्त आपूर्ति करने के बारे में उपभोक्ता को उचित सूचना न देना। (माप तथा तोल और भारतीय मानक संस्थान द्वारा विहित रूप में) उपभोज्य वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण और उनकी गुणवत्ता और मात्रा की प्रत्याभूति (गारण्टी) के सम्बन्ध में निर्देशों का पालन न करना।'

विधेयक में व्यवस्था थी कि हर जिले के लिये एक व्यक्ति वाले न्यायाधिकरण का गठन किया जाये और हर तहसील अथवा तालुके के लिये एक तथ्यान्वेषक अधिकारी नियुक्त किया जाये। समूची प्रक्रिया विधिवत् निर्धारित की गयी

थी। कोई उपभोक्ता हो या व्यापारी अथवा समिति पंजीकरण अधिनियम, १८६० के अधीन पंजीकृत कोई उपभोक्ता समिति अथवा कोई व्यापारी संघ, उसे अधिकार था कि वह अन्वेषक अधिकारी से परिवाद (शिकायत) कर सके। न्यायाधिकरण से अपेक्षा की गयी थी कि वह उन विवादों के बारे में, जहाँ समझौता नहीं हो सका, अपने निष्कर्षों सहित विफलता सम्बन्धी प्रतिवेदन प्रस्तुत करे और उसे विभिन्न अधिनियमों के अधीन अधिकारिता रखने वाले, यथास्थिति, न्यायिक दण्डाधिकारी अथवा नागरिक (सिविल) अधिकारिता वाले न्यायालय अथवा किसी सक्षम प्राधिकरण को भेजे। साथ ही, जहाँ न्यायाधिकरण के मत में शिकायत में गम्भीर प्रकृति का अपराध अन्तर्निहित हो, वहाँ दण्ड की संस्तुति करे, जिसमें अर्थ-दण्ड या साधारण कारावास या दोनों हो सकते हैं।

संक्षेप में, यह एक व्यापक विधेयक था, और अद्वितीय था। किन्तु दुर्भाग्यवश, उनके दुखद तथा अकाल निधन के बाद इसके बारे में आगे प्रयास नहीं किया गया। (महाराष्ट्र विधान परिषद् में श्री एम० जी० वैद्य ने ऐसा ही विधेयक पुरःस्थापित किया था, पर प्रयास विफल रहा।)

यह तो दावे से नहीं कहा जा सकता कि अन्य सहायक तत्त्वों के अभाव में केवल विधान मात्र से ही उपभोक्ता के हित का संरक्षण किया जा सकता है। किन्तु समाज-सुरक्षा एवं समाज-कल्याण की किसी भी योजना में समुचित विधान का अपना निश्चित स्थान होता है। यदि उपर्युक्त विधेयक पारित हो जाता तो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के इतिहास में एक नये अध्याय का श्रीगणेश हो जाता।

मेरा मन कहता है कि शीघ्र ही कोई विधायक इस दिशा में प्रयास करेगा ताकि श्री महालगी के अधूरे कार्य को सम्पन्न किया जा सके।

सहकारिता पर कुछ विचार

सबसे पहले तो मैं नाना पाल्कर स्मृति समिति को इस बात की बधाई देता हूँ कि उन्होंने इस अवसर के लिये यह बड़ा ही उपयुक्त विषय चुना है। आज अभूतपूर्व महँगाई है, चारों ओर अभाव-ही-अभाव है और मिलावट का बोलबाला है। इस कारण यह आज का सर्वाधिक महत्त्व का विषय है।

श्री नाना पाल्कर स्वयं में एक संस्था थे। वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पूर्ण समर्पित स्वयंसेवक थे। इस नाते उनका विचार था "संहता कार्य शक्तिः" अर्थात् केवल सहकारिता के मार्ग पर चलकर ही राष्ट्र अपनी सर्वोच्च विजय तक पहुँच सकता है। वे स्वयं निःस्वार्थ सहकार भाव की साकार मूर्ति थे, अतः यह उचित ही है कि उनकी पुण्य-तिथि पर हम इस विषय पर विशद चर्चा करें।

मेरा विनम्र निवेदन है कि आर्थिक संकट के वर्तमान चरण से बहुत पूर्व ही स्वतः हमारा ध्यान निर्धन उपभोक्ताओं की वास्तविक समस्याओं की ओर गया था। इनमें बेकारों तथा अल्पनियोजितों के बाद श्रमिकों की दशा सबसे अधिक शोचनीय है।

२२ नवम्बर, १९६९ को भारतीय मजदूर संघ ने राष्ट्रपति के समक्ष अपना 'भारतीय श्रमिकों की माँगों का राष्ट्रीय घोषणा-पत्र' अर्थात् 'कर्तव्य एवं नियमावली' प्रस्तुत किया था। इसमें उपभोक्ता मंचों/परिषदों के निम्नलिखित कर्तव्य निर्धारित किये गये थे :

"उपभोक्ता-हित के संरक्षण एवं संवर्धन के सामान्य कर्तव्य के अतिरिक्त, विशेष रूप से उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं एवं समस्याओं के बारे में ज्ञान तथा सूचना के प्रसार का भार सम्भालना ; खाद्य पदार्थों, औषधों, उपकरणों, यन्त्रों तथा अन्य उपभोज्य वस्तुओं के संकटों से उपभोक्ता की रक्षा करना ; अनुचित व्यापार-प्रथाओं अर्थात् धोखाधड़ी, अनाप-शनाप मूल्य, कम माप-तौल, मिथ्या संवेष्ठन (नकली पैकिंग), भ्रामक विज्ञापन, सभी प्रकार की चार सौ बीसी के विरुद्ध सतर्कता, जाँच-पड़ताल, विधान बनाना आदि जैसे उपाय अपनाना और उपभोक्ताओं को, जहाँ तक हो सके, उच्च कोटि की प्रमाणित वस्तु ही क्रय करने के लिये प्रेरित करना।"

भारतीय मजदूर संघ को इसका भी ज्ञान था कि श्रमिक सहकारी समितियों

और उपभोक्ता सहकारी समितियों के संगठन के क्रमबद्ध प्रयास के बिना उपभोक्ता मंच की गतिविधि अधूरी ही रहेगी। सहकारी उद्यम के लिये भारतीय मजदूर संघ के घोषणा-पत्र में निम्नलिखित नियमावलि निर्धारित की गयी :

सहकारी उद्यम के लिये नियमावलि

"केवल इस उद्देश्य से उद्यम चलाना कि उसके सदस्यों की आर्थिक सेवा हो सके और उनमें परस्पर सद्भाव और भाईचारा पनप सके;

व्यवहार में सत्यनिष्ठा बरतकर, आलोचना में विवेक का पुट देकर, सामूहिक निर्णयों के प्रति आपसी सद्भाव तथा सम्मान दर्शाकर उसके सदस्यों में सहज सम्बन्ध स्थापित करने की ओर विशेष ध्यान देना ;

विक्रेय वस्तु की गुणवत्ता, मण्डी की दशा, बिक्री की शर्तों, निकासी के समय और स्थान तथा विनम्र व्यवहार को पूर्ण रूप से ध्यान में रखते हुए क्रय-विक्रय नीति का आयोजन और परिपालन ;

समुचित तथा सुदक्ष लेखा-जोखा पद्धति बनाये रखना, वस्तुओं के साफ-सुथरे तथा सुरक्षित भाण्डागारण को सुनिश्चित करना ; लेनदारी, देनदारी और चलती पूँजी का सुदक्ष प्रबंध करना, परिसम्पत्ति का उचित ध्यान करना; प्रबन्ध-मण्डल और साधारण सदस्यों की सावधिक बैठक बुलाने के प्रति उत्तरदायी रहना;

विशेषज्ञता के संचयन हेतु सहकारी उद्यमों के जिला, राज्य तथा राष्ट्रीय संघों का उद्योगवार संगठन करना, थोक क्रय करना, आड़े समय के लिये संग्रह (स्टाक) रखना, आदि ; सहकारिता आन्दोलन को पुष्ट और संगठित करना, सरकार तथा स्थानीय निकायों से आवश्यक सहायता के रूप में उपयुक्त भूमि प्राप्त करना, भवन-निर्माण के लिये रिक्त स्थान प्राप्त करना, ऋण आदि का तथा अन्य वित्तीय प्रबन्ध करना, नियन्त्रण वाली वस्तुओं की, यदि कोई हों, सीधी आपूर्ति प्राप्त करना और सामान्यतः समुचित विधायी तथा प्रशासनिक संरक्षण प्राप्त करना जो सहकारिता आन्दोलन के ठोस पल्लवन में सहायक हों ;

उद्यम और श्रम-सम्बन्ध के प्रबन्धन के कार्य में, इस पत्र में सभी प्रबन्धों और सम्बन्धित उद्योगों के लिये समान रूप से प्रतिपादित नियमावलि का अनुसरण करना।"

यह नियमावलि आज भी उतनी ही सार्थक है, जितनी चार वर्ष पूर्व थी।

इस साधारणीकरण के होते हुए भी मैं यह स्वीकार करना चाहूँगा कि हमने उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन में अभी तक उल्लेखनीय रूप से भाग नहीं लिया है। आज हमने कुछ खोया भी है और कुछ सीखा भी है। वास्तव में वर्तमान व्यापक आर्थिक संकट से निपटने का एकमात्र उपाय यही है कि सभी राष्ट्रवादी इस बात को सर्वोच्च प्राथमिकता दें कि देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक उपभोक्ता सहकारी समितियों का जाल बिछा दिया जाये।

यह सच है कि वर्तमान संकट का कोई एक कारण नहीं है। अनेक कारण हैं, जैसे—अन्धाधुन्ध घाटे का वित्त-प्रबन्ध, कर की चोरी, काले धन की समानान्तर अर्थव्यवस्था, आवश्यक वस्तुओं पर अप्रत्यक्ष कर का भारी भार, एकाधिकारियों की बन्धनकारी प्रथाएँ, प्रशासनिक व्यय तथा दिखावे आदि पर अपव्यय में अभूतपूर्व वृद्धि, राज्यों के 'ओवरड्राफ्ट', भ्रष्टाचार का घुन, सरकारी उपक्रमों का फूहड़ संचालन, लगाये गये यन्त्रों की विशाल क्षमता का बेकार पड़े रहना, उद्योग की प्रौद्योगिकी, स्थान और आकार के सम्बन्ध में गलत औद्योगिक नीति, विदेशी बैंकों तथा अन्य विदेशी उद्योगों का निर्बाध चलन, विदेशी सहयोग के समझौतों में बन्धनकारी धाराएँ, विलास-सामग्री के लिये प्रोत्साहन और उपभोज्य वस्तुओं के उत्पादन में भारी कमी तथा सबसे बड़ा कारण—सत्तारूढ़ दल और निहित स्वार्थ वाले व्यक्तियों के बीच अपवित्र गठबन्धन। यह संकट मानव की देन है, प्रकृति की नहीं, पर सूखे तथा अन्य प्राकृतिक आपदाओं ने इसे गहराया अवश्य है। हम ग्रामीण क्षेत्रों के बेकारों और अल्पनियोजितों की क्रय-क्षमता को बढ़ा सकते थे। इसके लिये हम बेकारी के लिए बीमा प्रारम्भ कर सकते थे, सभी क्षेत्रों में राष्ट्रीयकृत बैंकों की वित्तीय मंत्रणा सेवा का संगठन कर सकते थे। बड़े पैमाने पर ग्रामीण क्षेत्रों के लिये निर्माण-कार्य प्रारम्भ कर सकते थे, श्रमिक-हितकारी परियोजनाएँ चला सकते थे, कृषि पर आधारित उद्योगों, वन आधारित उद्योगों और लघु उद्योगों का संगठन कर सकते थे। इन सबके लिये हम भारतीय प्रौद्योगिकी (टेक्नॉलॉजी) के प्रयोग, उत्पादन-प्रक्रिया, उद्योगों तथा उद्योगों के स्वामित्व के विकेन्द्रीकरण का विशेष रूप से सहारा ले सकते थे। हमें दिखावे वाले और दूसरों को उकसाने वाले उपभोग की गर्दन दबोचने के लिये उपभोग-कर लगाना चाहिए था। हमें उपभोग प्रणाली में समुचित परिवर्तन लाने चाहिए थे। हमें सभी प्रकार के विकासेतर व्यय में अधिक-से-अधिक कमी करनी थी और छोटी-मोटी घरेलू बचतों के लिये आकर्षक प्रलोभन देने थे। हमें दृढ़ता से कुछ उपायों पर आचरण करना था, जैसे—जमाखोरों, मुनाफाखोरों तथा काला-बाजारियों के लिये कठोर तथा शिक्षा देने वाला दण्ड, घाटे की अर्थव्यवस्था में कठोर कटौती, एकाधिकार-उन्मूलन, लाभ तथा लाभांशों पर छूट की अधिकतम सीमा को कम करना, उद्योगों में उत्तरोत्तर श्रम-प्रधानता, छोटी बचतों का उद्योगों में विनियोजन आदि। हमें अपनी योजनाओं में आवश्यक उपभोज्य वस्तुओं के उत्पादन पर अधिक बल देना था और विलास-सामग्री के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाना था। वास्तव में योजना आयोग की योजना ही वास्तविकता से परे थी। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद स्वार्थरत सत्तारूढ़ दल ने गलत नीतियों का आश्रय लिया। नौकरशाही में भ्रष्टाचार फैला, उन्होंने मनमानी की। जन-जीवन पर नये भौतिकवादी मूल्यों का रंग चढ़ा। विदेशी सहयोगकर्ताओं की बड़ी

लल्लो-चप्पो की गयी। और, इन सबने मिलकर वर्तमान आर्थिक संकट का पर्वत खड़ा कर दिया। निश्चय ही इसका मुख्य दायित्व तो सरकार पर है और वर्तमान ढाँचे में गैर-सरकारी अभिकरणों के निःस्वार्थ प्रयास के कोई ठोस परिणाम निकलने वाले नहीं हैं। सरकार ने तो एक प्रकार से निश्चय कर लिया है कि पिछले अनुभव से उसे कुछ लेना-देना नहीं है। दुर्भाग्य की बात यह है कि सरकार में यह वृत्ति पनपती जा रही है कि सत्ता तो उसकी बढ़ती जाये पर दायित्व घटते जायें।

इस सम्बन्ध में सरकार पर सभी समुचित दबाव डालने के लिये सभी देश-भक्त हर प्रकार के सांविधानिक तथा आन्दोलनकारी उपाय द्वारा संगठित प्रयास तो करेंगे ही, पर साथ ही वे असहाय दर्शक की भाँति प्रतीक्षा में बैठे नहीं रह सकते। निर्धनतम उपभोक्ता की दशा तो दिनोंदिन गिरती जा रही है। वे देखेंगे कि या तो चूक करने वाली सरकार चूक सुधार ले या फिर उसका लेन-देन ही चुकता कर दिया जाये। इस बीच उन्हें स्वेच्छा से उपभोक्ताओं की सहायता करने के लिये कुछ परियोजनाएँ प्रारम्भ करनी चाहिए। ऐसे कठिन समय में उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन के संगठन का यही औचित्य है। भारत में तथा अन्य देशों में भी उपभोक्ता आन्दोलन विशेष रूप से मुद्रास्फीति और अभाव के दिनों में पनपा है।

कोश में 'सहकारी समितियों' की परिभाषा इस प्रकार की गयी है: "आपसी औद्योगिक लाभ के लिये मिलकर काम करने वाले किसी संगठित समूह या संगठन से सम्बन्धित या उसके स्वामित्व वाली समितियाँ, जिनकी बचत अथवा लाभ लोगों में उस अनुपात में बाँटे जायें, जिस अनुपात में वे संगठन से व्यापार करते हों।" 'सहकारिता' की परिभाषा इस प्रकार की गयी है, "अनेक व्यक्तियों का स्वैच्छिक संगठन, जो संगठित समूह के रूप में कोई ऐसा काम करे, यथा—उत्पादन, विपणन तथा बैंकिंग, जिसकी बचत या लाभ सदस्यों के आपसी हित में लगाये जायें।"

सहकारितावाद के प्रारम्भिक इतिहास का पता लगाना कठिन है। इसका उस आधुनिक 'फैशन' से कोई सम्बन्ध नहीं है, जो प्राचीन हिन्दुओं, प्राचीन ईसाइयों और अमरीकी इण्डियनों की सहकारी जीवन-पद्धतियों की दुहाई देता है। पश्चिम में प्राचीनतम सहकारी समितियों के कोई अधिकृत अभिलेख उपलब्ध नहीं हैं। इसका कारण यह है कि सहकारिता सम्बन्धी नियम तथा विनियम तभी बने जब किसी देश में सहकारी समितियाँ कुछ फली-फूलीं। ऐसा कहा जाता है कि १८०० से पूर्व स्काटलैंड में कुछ सहकारी समितियाँ थीं। अमरीका में विलियम ब्रायन ने १८३० में न्यूयार्क के हडसन और लेरोय स्ट्रीट के समीप एक सहकारी भण्डार की स्थापना की थी। किन्तु उस देश में वास्तविक सहकारिता आन्दोलन गृह-युद्ध के

बाद ही प्रारम्भ हुआ। वैसे वहाँ के सहकारी भण्डारों का लेखा-जोखा उत्साह-जनक नहीं है। स्कैण्डीनेविया के देशों में इसका श्रीगणेश शती के प्रारम्भ में हुआ था। नार्वे, आइसलैंड और स्वीडन में नाना प्रकार का सुसम्बद्ध सहकारी प्रयास होता रहा है। स्वीडन की प्रथम जानी-मानी सहकारी समिति की स्थापना १८५० में हुई थी। समिति का नाम था—ओर्सुंड्सब्रो लेगुण्डा हेगुण्डा जिला वस्तु-क्रय-समवाय। सबसे पुरानी, पर सक्रिय सहकारी समिति की स्थापना १८६७ में ट्रौलहट्टन में हुई थी। इसकी अनेक उत्पादक, उपभोक्ता एवं सेवा सहकारी समितियाँ हैं जिनके सशक्त संघ हैं। इसके अन्तर्गत ३३८ समितियाँ हैं जो उस देश की एक तिहाई से भी अधिक जनसंख्या की सेवा करती हैं। स्विट्जरलैंड में सहकारिता आन्दोलन का प्रारम्भ १८५१ में हुआ। गत शताब्दी के मध्य तक बेल्जियम और कनाडा में ऋण-संघों की धूम मची। जर्मनी, इटली और रूस में सहकारिता आन्दोलनों का गला, हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन ने, जन्मते ही घोट दिया। मुसोलिनी और हिटलर ने तो सहकारी समितियों का उच्छेद ही कर दिया और स्टालिन ने उन्हें अपने हाथ में ले लिया। इस प्रकार उनका स्वरूप बदल गया। संचालन सदस्यों के हाथ में न रहकर सरकार के हाथ में आ गया। कहा जाता है कि ग्रेट ब्रिटेन में राबर्ट ओवेन सहकार-भावना के जनक थे। ब्राइटन के डा० किंग ने उसमें दिन-प्रतिदिन की व्यावहारिक समस्याओं का समावेश किया और रोशडेल पायोनियर्स ने उसे एक सैद्धान्तिक आन्दोलन की भित्ति प्रदान की। लोकतान्त्रिक देशों में व्यापार निगमों और पूँजी-पतियों ने सहकारी समितियों का विरोध किया। वे अपने लाभ की मात्रा को गुप्त रखना चाहते थे। सहकारी समितियों का संचालन एक खुली पुस्तक है। चाहे कोई उनका सदस्य हो या न हो, वह उनका अध्ययन कर सकता है। उससे व्यापार की वास्तविक लागत का पता चल जाता है। उससे लाभ की मात्रा, ब्याज-प्रभार और किराया प्रभार कम हो जाता है और उत्पादों की गुणवत्ता में सुधार हो जाता है। इसके अतिरिक्त बिचौलिया और अनावश्यक सेवा नहीं रहती। जैसाकि स्नौरी थोरफिन्सन ने ठीक ही कहा है, "सहकारी समितियों का सम्पूर्ण इतिहास तो अनेक खण्डों की अपेक्षा रखता है। कम-से-कम स्कैंडीनेविया के हर देश के इतिहास के बारे में तो ऐसी ही स्थिति है। वहाँ यह आन्दोलन आर्थिक और सामाजिक प्रगति का एक अभिन्न अंग बन गया है। संक्षेप में, सहकारिता आन्दोलन जन-साधारण का आन्दोलन है, प्रायः ऐसे लोगों का आन्दोलन, जिनके सामने कठिन आर्थिक समस्याएँ होती हैं। लोग संगठित होकर काम करते हैं। आन्दोलन कई बार गिरा, उठा और आगे बढ़ता गया। उसने विरोध के सागर को पार किया। उसके कर्णधार अधिकांशतः शान्त हैं, प्रशंसा से दूर हैं और यह व्यापार का लोकतन्त्र है।"

सहकारिता आन्दोलन-विषयक सिद्धान्तों का निरूपण सर्वप्रथम १८४४ में इक्वीटेबिल पायोनियर्स की रोशडेल सोसाइटी ने किया। वे इस प्रकार थे : एक सदस्य का एक मत (वोट), निदेशकों का चुनाव सदस्य सक्रिय सदस्यों में से करें, संरक्षक द्वारा किये गये व्यापार के मूल्यानुसार अर्जन का बँटवारा हो, सदस्यों के लिये अनवरत शिक्षा-कार्यक्रम हो। गैटस्केल समिति ने सहकारी लोकतन्त्र के लिये चार मूल सिद्धान्त निर्धारित किये : लोकतान्त्रिक नियन्त्रण, क्रय पर लाभांश, पूँजी पर सावधि लाभ और उपभोक्ता-संरक्षण।

१९६४ में अन्तरराष्ट्रीय सहकार संगठन ने कर्वे समिति की नियुक्ति की। उसने रोशडेल पायोनियर्स के रोशडेल सिद्धान्तों पर विचार करके उन्हें पुनः निर्धारित किया। नकद व्यापार और राजनीतिक तथा धार्मिक तटस्थता के गौण सिद्धान्तों का लोप कर दिया गया। कर्वे समिति के सिद्धान्त हैं: (१) निर्बाध सदस्यता, (२) लोकतन्त्रात्मक नियन्त्रण, (३) अंश पूँजी पर सीमित ब्याज, (४) संरक्षण-लाभांश, (५) शिक्षा-संवर्धन और (६) सहकारी समितियों में परस्पर सम्बद्धता।

वैसे तो भारत में सहकारिता आन्दोलन १९०४ से प्रारम्भ हुआ था और १९१३-१४ में श्री जी० के० देवधर ने पूना में एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में वस्त्र-भण्डार खोला था, दोनों विश्व-युद्धों के समय और उनके बाद उपभोक्ता आन्दोलन ने कुछ जड़ भी पकड़ ली थी, पर उपभोक्ता सहकारी समितियों का क्रमबद्ध संगठन तीसरी पंचवर्षीय योजना काल में ही प्रारम्भ हुआ। उस समय नटेशन समिति की संस्तुतियों को क्रियान्वित किया गया और भारत सरकार ने उपभोक्ता सहकारी समितियों की केन्द्र-प्रायोजित योजना चालू की। लोगों ने ऋणदात्री समितियों का जितना स्वागत किया है, उतना उपभोक्ता-समितियों का नहीं किया। ऋण का धन्धा व्यापार से सरल है। व्यापार में सदस्यों में कहीं अधिक अनुशासन और सहयोग की तथा प्रबन्ध-कौशल की अपेक्षा होती है, यद्यपि उपभोक्ता सहकारी समितियों के व्यापार का हेर-फेर ऋणदात्री समितियों से अधिक होता है और सम्भावित लाभ की मात्रा भी अधिक होती है। नवीनतम सूचना के अनुसार नगर-क्षेत्रों में लगभग ४०० थोक उपभोक्ता भण्डार हैं जिनकी २३०० शाखाएँ हैं। १४,००० प्राथमिक सहकारी भण्डार हैं। ऊपर से नीचे तक उपभोक्ता समितियों की वर्तमान संरचना इस प्रकार है :

(१) राज्य स्तर पर राज्य उपभोक्ता संघ,

(२) जिला स्तर पर केन्द्रीय थोक भण्डार और

(३) महानगरों या नगर-क्षेत्रों में प्राथमिक उपभोक्ता भण्डार।

प्राथमिक उपभोक्ता भण्डार जिला थोक भण्डारों से सम्बद्ध हैं जो स्वयं राज्य उपभोक्ता संघ से सम्बद्ध हैं।

उपभोक्ता-समितियाँ केवल नगर-क्षेत्रों में काम कर रही हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में या तो सहकारी विपणन समितियाँ या प्राथमिक कृषि समितियाँ या फिर निजी व्यापारी काम कर रहे हैं। कम-से-कम ५० हजार की जनसंख्या वाले नगर-क्षेत्र में उपभोक्ता भण्डार आत्म-निर्भर इकाई बन सकता है। अन्य क्षेत्रों में नियन्त्रित वस्तुओं के वितरण का काम स्थानीय विपणन समितियों को सौंपा जा सकता है। महाराष्ट्र में थोक भण्डार हर जिले में संगठित किये गये। इनमें से अधिकांश की शाखाएँ हैं। ये भण्डार ५० हजार से अधिक की जनसंख्या वाले नगरों में भी खोले गये। महाराष्ट्र राज्य थोक उपभोक्ता सहकारी समिति संघ १२-६-१९६४ को पंजीकृत हुआ। केन्द्रीय थोक भण्डार उसके सदस्य हैं। १९६८-६९ तक यह योजना केन्द्र द्वारा प्रायोजित थी, पर चौथी पंचवर्षीय योजना के आरम्भ से राज्य सरकारों को सौंप दी गयी है। अब उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन के विकास और स्थायित्व का दायित्व राज्य सरकारों का है।

महाराष्ट्र राज्य में डा० ए० यू० शेख की अध्यक्षता में उपभोक्ता सहकारी समितियों की विशेषज्ञ-समिति ने इस दिशा में विशिष्ट सेवा की है।

वास्तव में सहकारिता आन्दोलन के उदय के पश्चात् केन्द्र तथा राज्यों की सरकारों ने विभिन्न समितियाँ तथा आयोग नियुक्त किये हैं और कहा जा सकता है कि मैक्लागन समिति से लेकर ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति तक किसी भी एक समिति की समूची संस्तुतियाँ पूर्णतः कार्यान्वित नहीं हुई हैं। परन्तु उनके प्रतिवेदन बड़े ही उपयोगी हैं। वे आन्दोलन की विभिन्न समस्याओं के बारे में अत्यावश्यक आँकड़े और विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

शेख समिति ने महाराष्ट्र राज्य में २७ संस्थानों का और राज्य से बाहर १४ संस्थानों का निरीक्षण किया। उसने आन्दोलन के सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है, यथा—उसकी वर्तमान दशा, उपभोक्ता सहकारी समितियों की संगठनात्मक संरचना, उनके लिए दक्षता के मापदण्ड, उनकी क्रय-नीतियाँ, अन्य निकायों से उनका सम्बन्ध, सरकार से या उसकी ओर से व्यापार, कर्मचारी-सम्बन्धी विनियम, प्रशिक्षण-कार्यक्रम, सदस्य-शिक्षा, मन्त्रणा-सेवाएँ, व्यापार-परिसर, प्रत्याभूति (गारण्टी) योजना समेत सरकारी सहायता, उनका लेखा-परीक्षण और सफलता-सम्बन्धी मार्ग-निर्देश। समिति ने निम्नलिखित बातों को सफलता की कुंजी माना है :

(१) दुकानों की सही स्थिति।
(२) क्रय पर नियन्त्रण ; समुचित थोक क्रय। मंडी के भावों और ग्राहक की रुचि को ध्यान में रखते हुए सस्ती दरें।
(३) भंडार की नियमित पड़ताल और कमी के लिये उपचारी उपाय।
(४) भंडार की नियतकालिक पुनरीक्षा—घटी दरों पर पुराने संग्रह की

निकासी, घटी दरों पर संग्रह की वापसी और बिक्री के अयोग्य तथा टूटे-फूटे संग्रह की वापसी ।

(५) उचित विक्रय-मूल्य का नियतन, सम्भव हो तो सदस्यों के लिये छूट सहित बाजार भाव से नीचे ।

(६) यथासम्भव नकद बिक्री ।

(७) सदस्यों की निक्षेप (जमा) राशि सहित पर्याप्त चल पूंजी ।

(८) तीव्रता से हेर-फेर करके भारी लाभ ।

(९) प्रबन्ध लागत और अन्य ऊपरी लागत कम ।

(१०) निरीक्षण हेतु दक्ष, सत्यनिष्ठ एवं परिश्रमी प्रबन्धक, प्रबन्ध समिति की नियमित बैठक, कर्मचारियों की मासिक बैठकें, शाखाओं तथा प्रधान कार्यालय के कार्य के प्रतिवेदनों का पुनरीक्षण ।

(११) प्रधान कार्यालय में सभी शाखाओं के लेखे-जोखे की केन्द्रीभूत पद्धति और समुचित भंडार-नियन्त्रण, या तो वस्तुओं के खातों द्वारा या मूल्य-नियन्त्रण की दोहरी खाता पद्धति द्वारा ।

(१२) कर्मचारियों का समुचित चयन तथा प्रशिक्षण ।

(१३) उपभोक्ता के साथ अच्छे व्यापार-सम्बन्ध, यथा—घर पर सामान पहुँचाना, संरक्षण बोनस, पहले से पैकिंग करना ।

(१४) भण्डारों के माध्यम से बेचे जाने वाले सामान के लिये सेवा-सुविधाएँ, यथा—माल की सफाई तथा पहले से पैकिंग; घर पर सामान पहुँचाना, साइकिल की टूट-फूट सुधार ; सिलाई की व्यवस्था, निःशुल्क चिकित्सकीय परामर्श, दूध की आपूर्ति, (बुरशेन, कोसनगैस, कैल-गैस, इण्डेन) तरल पेट्रोलियम गैस की एजेंसी ।

(१५) माल की तैयारी/उपभोक्ता उद्योग, यथा—आटा चक्की, मसालों का चूर्ण, साइकिल को जोड़ना, कागज और लेखन-सामग्री, छापेखाने ।

समिति ने ठीक ही कहा है कि भण्डार का दूरदर्शी लक्ष्य यह होना चाहिए कि जो सदस्य हो, वह उपभोक्ता भी हो; जो उपभोक्ता हो, वह सदस्य भी हो । उसने व्यापक सहयोग की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है और कहा है कि इसके लिये गृहिणियों, विपणन समितियों, निर्माताओं, राज्य विपणन संघ, राज्य व्यापार निगम, भारतीय खाद्य निगम, इण्डियन आयल कम्पनी, रेल प्राधिकरणों, परिवहन प्राधिकरणों, नागरिक आपूर्ति विभाग, पशु-पालन, दुग्धोद्योग-विकास, मत्स्य पालन विभाग, कपड़ा निगम, खाद्य तथा भेषज निदेशालय, उपभोक्ता, मार्गदर्शी समितियों, राष्ट्रीय सहकार विकास निगम, नगरपालिकाओं, सुधार-न्यासों, भवन निर्माण बोर्डों, महाराष्ट्र सहकारी भवन निर्माण वित्त समिति, राष्ट्रीयपेकृत बैंकों, अक्स बैंक, केन्द्रीय वित्त प्रबन्ध अभिकरणों, लेखा-परीक्षकों,

विधायन समितियों; औद्योगिक सहकारी समितियों, लघु उद्योगों, औद्योगिक वित्त निगम, कृषि पुनर्वित्त निगम, नगरीय सहकारी बैंक, खादी ग्रामोद्योग आयोग, संसद, सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों, माडर्न बेकरी, सरकार के अन्य वित्तीय संस्थानों, राज्य सरकार और भारत सरकार—सभी के सहयोग की अपेक्षा है।

इस लम्बी सूची को देखकर तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन निर्बल है। उसमें प्राण डालने के लिये विभिन्न सहकारी संस्थाओं के बीच तालमेल की आवश्यकता है। इस तालमेल का मुख्य उद्देश्य यह है कि उत्पादन के नाम पर कोरे शंख बजाने वाले बिचौलियों के लिये शोषण की रत्ती-भर भी शक्यता न रहने पाये। इस तालमेल के बारे में बम्बई राज्य सहकारी संघ द्वारा नियुक्त समिति ने संस्तुति की है और अन्तरराष्ट्रीय सहकारिता संघ द्वारा नियुक्त सहकारिता सिद्धान्त आयोग ने भी इस सम्बन्ध में संस्तुति की है। इन दोनों की ही संस्तुतियाँ बड़ी लाभदायक हैं। बम्बई समिति की मुख्य संस्तुतियाँ इस प्रकार हैं :

(१) विभिन्न प्रकार की समितियों के बीच किन्हीं समान प्रयोजनों के लिये सहभागिता स्थापित करना;

(२) प्रबन्ध-मण्डलों अथवा समितियों के निदेशकों अथवा सदस्यों के लिये आपस में मिलकर नाम-निर्देशन करना;

(३) संयुक्त समितियों अथवा मण्डलों का गठन;

(४) मूल इकाइयों की देखरेख में आबद्ध अथवा सहायक सहकारी समितियों का संगठन तथा विकास;

(५) सहकारी समितियों के बीच सहकारी संरक्षण का भाव उत्पन्न करना; और

(६) 'सार्वजनिक सहकारी समितियों' का गठन।

जहाँ भारतीय सहकारिता आन्दोलन उपर्युक्त तालमेल के इस आदर्श की प्राप्ति से अभी कोसों दूर है, वहाँ महाराष्ट्र में राज्य विपणन सहकारी संघ ने अपना झंडा गाड़ दिया है। उसने अपने मण्डल में सहकारी उपभोक्ता संघ, सहकारी चीनी कारखानों तथा अन्य विधायन इकाइयों के प्रतिनिधियों को स्थान दिया है। जहाँ हम ऐसे तालमेल के मार्ग में आने वाली अड़चनों के बारे में पूर्ण सजग हैं, वहाँ हमें डा० डी० आर० गाडगिल के इन उत्साहवर्धक विचारों को भी बिसारना नहीं चाहिए :

"सहकारी संगठन की अन्योन्याश्रित प्रकृति पर उसके सुसम्बद्ध नेताओं ने बराबर बल दिया है,····इस दिशा में श्रीगणेश सदा गैर-सरकारी नेताओं के हाथ में रहा है। उन्होंने सदा ही प्रयोग की तत्परता दिखायी है और सदा ही एक दूसरे को बल प्रदान करने के लिये कंधे से कंधा भिड़ाकर कार्य करके

सहकारी आन्दोलन की अन्योन्याश्रित प्रकृति को जीवित रक्खा है। महाराष्ट्र की हाल की घटनाओं के ये प्रमुख आकर्षण रहे हैं।"

फिर भी, जैसा कि प्रा० डी० झा ने कहा है, अब समय आ गया है कि भारत का राष्ट्रीय सहकारिता संघ संचालन के विभिन्न स्तरों पर इस तालमेल की समस्या के बारे में समिति नियुक्त करे।

जहाँ तक आन्दोलन के निर्बल होने का सम्बन्ध है, सहकारिता में विश्वास रखने वालों को सरकार और उसके विभिन्न अभिकरणों की सहायता एवं संरक्षण प्राप्त करने में लज्जा का अनुभव नहीं करना चाहिए। जापान और अमरीका जैसे उन्नत देशों में भी ऐसी आवश्यकता का अनुभव किया गया है। अमरीका में जब कृषि-क्षेत्र-ऋण-प्रणाली प्रारम्भ की गयी तो अंश पूँजी का शत-प्रतिशत योगदान राज्य ने किया; पर सरकार को पूँजी लौटाये जाने में एक प्रकरण में तो ४५ वर्ष और अन्य प्रकरणों में ३५ वर्ष लग गये। तब कहीं जाकर किसानों अथवा उनके संगठनों के हाथ में संस्थानों का पूर्ण स्वामित्व और प्रबन्ध आया। आक्सफोर्ड में जुलाई, १९७३ में सहकारिता अध्ययन सम्मेलन के अवसर पर प्लंकेट फाउण्डेशन में प्रस्तुत पत्र में डा० सी० डी० दाते ने कहा कि जब समूचे देश में सहकारी ऋण अभिकरणों की स्थापना का उद्देश्य पूरा हो गया तो अमरीकी सरकार ने अपने हाथ इस क्षेत्र से समेट लिये।

निश्चय ही यह लोकतन्त्रात्मक राज्य का कर्तव्य है कि वह निजी निहित स्वार्थों की होड़ और विरोध से सहकारी समितियों की रक्षा करे। उसे यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि उसकी सहायता के लाभ सभी वर्गों को उचित रूप से मिलें और केवल कुछ ही लोगों के हाथों में सिमटकर न रह जायें। किन्तु राज्य के हस्तक्षेप का अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि सहकारी समितियाँ सरकारी अभिकरण बनकर रह जायें और लोक-प्रेरणा का गला घुट जाये। इस सम्बन्ध में प्रो० डेवीडोविक द्वारा उद्धृत डे रोक्विग्नी का विचार सन्तुलित है। उनका विचार है कि "सहकारिता के हित में राज्य का साधारण-सा हस्तक्षेप होना चाहिए।" प्रो० डेवीडोविक ने कहा है, "सहकारी समितियों के विकास का सर्वोत्तम मार्ग यही है कि नीचे से स्वयं वे लोग ही उनका विकास करें जिन्हें सहकारिता की आवश्यकता हो।" 'राज्य वित्त-प्रबन्ध से उपजने वाली स्व-वित्त प्रबन्धक सहकारी समितियाँ' नामक प्रो० डेवीडोविक के पत्र का मुख्य आधार यही है कि "विशेष रूप से विकासशील देशों में जहाँ राज्य की ओर से प्रायोजन, मार्ग-निर्देशन, सहायता तथा साझेदारी भी आवश्यक है, वहाँ सहकारी अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिये राज्य को चाहिए कि वह सहकारी आत्म-सहायता और परस्पर सहायता की भावना को पूर्ण सुरक्षा और सम्बल प्रदान करे ताकि यथासमय सहकारी समितियाँ पूर्णतया आत्म-निर्भर हो जायें और राज्य के

संरक्षण की उन्हें आवश्यकता न रहे। सहकारी ढंग के संगठन को पल्लवित एवं पुष्ट करने के लिये राज्य के हस्तक्षेप का यह फल नहीं निकलना चाहिए कि एक ओर तो सहकारी समितियों का प्रयोग सत्तारूढ़ सरकार के राजनीतिक हितों को साधने के लिये हो और दूसरी ओर सरकार के सहारे बिना अपने कार्य-संचालन की उनकी अपनी इच्छा और प्रेरणा इस सीमा तक निर्जीव हो जाये कि सहकारी समितियों में निर्भरता और मिथ्यावादिता की वृत्ति पनप जाये और उनके पास इसके अतिरिक्त कोई चारा न रह जाये कि वे सरकार के राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों की पूरक भर बन कर रह जायें।"

इस प्रसंग में डा० गाडगिल ने कहा है, "निर्भरता की वृत्ति हमारे विकास में बड़ा अभिशाप है। सर्वत्र उसका बोलबाला है। क्या राज्य सरकार, क्या जिला परिषद्, क्या सहकारी समितियाँ, सभी राजकीय सहायता के लिये सरकार का मुँह ताक रही हैं।"

डा० गाडगिल ने संक्षेप में ठीक ही बताया है कि कतिपय क्षेत्रों में सहकारी समितियों की सफलता इन बातों पर निर्भर हैं:

(१) सबसे निचले स्तर से ही नेतृत्व का निर्माण हो और सभी स्तरों पर परस्पर विनिमय तथा सम्पर्क हो।

(२) आन्दोलन वहीं स्वस्थ है जहाँ सरकार सहकारी उद्यमियों का सम्मान करे और उन्हें विशाल स्वायत्तता प्रदान करे।

(३) जहाँ सहकारी समितियाँ अधिकांशतः आत्म-निर्भर हों।

डा० गाडगिल ने सहकारी उद्यमियों से अनुरोध किया है कि वे केवल अलग-अलग सहकारी समितियों की दृष्टि से न सोचें, अपितु सहकारी पद्धति के रूप में सोचें। उन्होंने कहा, "पूरे समाज के परिप्रेक्ष्य में सहकारिता के बारे में न तो संगठन-सम्बन्धी, न संचालन-सम्बन्धी और न ही सिद्धान्त-सम्बन्धी समस्याओं का वास्तव में कोई गहन मनन हुआ है। भारतीय प्रसंग में जब यह आशा की जाती है कि सहकारिता का जाल समूचे ग्रामीण समाज को ढाँप ले तो विशिष्ट समाज की संगठनात्मक समस्याओं का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि उस संरचना के, जिसे मैं पद्धति कहता हूँ, संगठन, संचालन एवं सिद्धान्त-सम्बन्धी समस्याओं का है। जब तक हम ऐसी सहकारिता-पद्धति का गठन नहीं कर लेते, जो आत्म-निर्भर हो और सफल संचालन-योग्य हो, तब तक हम राष्ट्र की आकांक्षाओं की कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते।"

डा० गाडगिल ने इस सूक्ष्म दृष्टि पर बल देते हुए कहा, "न केवल किसी इकाई की ही, वरन् पद्धति की भी आर्थिक विशेषताओं की कल्पना की जा सकती है।" पुनश्च सहकारिता पद्धति सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का ही अभिन्न अंग है। आवश्यकता एक समग्र दृष्टिकोण अपनाने की है।

इस दृष्टिकोण के आधार पर उन्होंने कहा, "कोई राष्ट्रीयकृत बैंक कितना भी दक्ष क्यों न हो, वह सहकारी समुदाय का निर्माण नहीं करता। समुचित विकास के लिये, स्थानीय स्तर पर सामाजिक-आर्थिक संगठनों की शृंखला को संघात्मक प्राधिकरणों के सोपान में परिवर्तित करना ही ऐसी पद्धति है जो वांछनीय है। यह बात न केवल किसी एक क्षेत्र पर, वरन् समूची ग्राम-अर्थव्यवस्था पर लागू होती है। हमारे विचार से सहकारी पद्धति का ऐसा गठन अन्तिम लक्ष्य है और होना भी चाहिए।"

यद्यपि ग्राम ऋण सर्वेक्षण समिति ने कहा है कि "सहकारिता विफल हो गयी है, किन्तु उसे सफल होना ही चाहिए," फिर भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। सहकारिता तो भारतीय प्रकृति में समायी हुई है। यह सच है कि आवश्यकता से अधिक राजनीतिक रंग देने से यह क्षेत्र विनष्ट हुआ है, किन्तु ऐसी बात नहीं है कि वह भारतीयों की मूल प्रकृति हो। आज भी ऐसी समितियाँ हैं जो उचित प्रकार से चलायी जा रही हैं, यथा—चिन्तामणि कोआपरेटिव सुपर मार्केट, कोयम्बटूर और जनता बाज़ार, बंगलौर आदि। कुछ अन्य उदाहरण भी हैं। 'समर्थ कोआपरेटिव कंज्यूमर्स सेण्ट्रल स्टोर्स लिमिटेड, ठाणे', 'शेतकरी सहकारी संघ, कोल्हापुर', 'अपना बाज़ार, बम्बई' का वृत्त निराशाजनक नहीं है। जहाँ एक समूह सफल हो सकता है, वहाँ दूसरे भी सफल हो सकते हैं। सहयोग-कर्ताओं के चयन में समुचित सावधानी बरतनी चाहिए। सम्बद्ध कारणों के सर्वेक्षण में भी सावधान रहना चाहिए, यथा—कुल कितने व्यापार की इन लोगों से आशा की जा सकती है, सहकारी समिति के प्रति उनकी मनोवृत्ति, वर्तमान होड़—प्रदत्त सेवा की गुणवत्ता के बारे में और सम्भावित विरोध की प्रकृति के बारे में भी, समान प्रकार की अन्य सहकारी सुविधाओं से दूरी, क्षेत्र की उत्पादन और विपणन सम्बन्धी आवश्यकताओं में सम्भावित प्रवृत्तियाँ। सहकारी प्रशिक्षण का सघन कार्यक्रम होना चाहिए ताकि इच्छुक देशभक्त स्वयं को इस प्रयोजन के लिए समुचित रूप से तैयार कर सकें। इस दिशा में भी हमने अच्छा आरम्भ किया है। उदाहरणार्थ, धनंजयराव गाडगिल सहकारी प्रशिक्षण महाविद्यालय, नागपुर ने महाराष्ट्र राज्य सहकारी संघ के अध्यापक वर्ग के लिए अध्यापन-प्राविधि और दृश्य तथा श्रव्य साधनों सम्बन्धी अल्पकालीन नवीकरण पाठ्यक्रम का जो सार-संग्रह किया है, वह श्लाघ्य है और सही दिशा में एक पग है। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि पिछले अनुभव के आधार पर इस समूचे विषय पर पुनः गतिशील और व्यापक चिंतन-मनन होना चाहिए।

ऐसे पुनर्विचार के लिए राइट आनरेबिल ह्यूफ़ गैटस्केल की ध्यक्षता में इंग्लैंड के स्वतंत्र सहकारी आयोग का प्रतिवेदन आदर्श भी है और शिक्षाप्रद भी, भले ही उसका प्रथम प्रकाशन दस वर्ष से भी अधिक समय पूर्व हुआ था। प्रतिवेदन

के बारे में श्री एम० वी० मदाने के प्रकाशन का गम्भीर अध्ययन होना चाहिए। आयोग ने अपने प्रतिवेदन में ब्रिटिश सहकारी आन्दोलन की अनेक दुर्बलताओं पर प्रकाश डाला है, जिनके कारण निजी बहुविभागी फुटकर संगठनों के बढ़ते हुए प्रभाव की तुलना में सहकारी समितियों का बल क्षीण होता गया। आयोग ने अनेक सारणियाँ तैयार कीं, यथा—'विक्रेय वस्तुओं तथा सेवाओं पर कुल व्यय में सहकारी फुटकर समितियों का अंश, १८६०-१६५६'; 'कुल फुटकर व्यापार में विभिन्न प्रकार के फुटकर विक्रेताओं का अनुमानित अंश, १६०४-१६५६'; 'कुल फुटकर बिक्री में सहकारी समितियों तथा बहुविभागी पण्यशाला (दुकान) संगठनों का अनुमानित अंश, १६३५-१६५६'; '१६३५, १६५० और १६५५ में पण्य-समूहों की फुटकर बिक्री में सहकारी समितियों का अनुमानित अंश'; 'विभिन्न व्यापार-समूहों की कुल फुटकर बिक्री में सहकारी फुटकर समितियों, बहु-विभागी पण्यशाला संगठनों तथा अन्य फुटकर विक्रेताओं का अनुमानित अंश', आदि। ये रोग का सही निदान करने में सहायक हुए। आयोग ने आन्दोलन की चार बड़ी-बड़ी दुर्बलताएँ बतायी हैं। इनके कारण पिछली दो दशाब्दियों में फुटकर व्यापार में सहकारी समितियों के अंश में वृद्धि नहीं हो सकी। ये दुर्बलताएँ हैं: सहकारी पण्यशालाओं (दुकानों) की संख्या, सहकारी दुकानों का वितरण, दुकानों की गुणवत्ता और सहकारी दुकानों पर बेचा जाने वाला माल। आयोग ने उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन के विभिन्न पक्षों की चर्चा की है। उसने फुटकर समितियों, थोक समितियों, सहकारी संघ और सहकारी फुटकर विकास समिति से समुचित संस्तुतियाँ की हैं, पर साथ ही स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि समितियों ने निजी संघों के बढ़ते हुए संकट को नहीं भाँपा, विचाराधीन अवधि में उनमें पहल की कमी रही। अनेक बातों के सामूहिक प्रभाव के कारण ऐसा हुआ, यथा—आत्मतोष, प्रेरणा का अभाव, सदस्य-शिक्षा का अभाव और सतर्क आयोजन का अभाव। आयोग ने कहा है कि उपभोक्ताओं के संरक्षण के लिए सहकारी समिति को जिन तीन लक्ष्यों को ध्यान में रखना चाहिए, वे हैं:

(१) किसी बड़े प्रतियोगी की अपेक्षा मूल्य में लगातार कमी कभी न करना;

(२) घटिया अथवा अप्रमाणित माल कभी न बेचना; और

(३) दुकान की स्थिति, सजावट और सेवा का उच्चतम स्तर बनाये रखना।

पारस्परिक तालमेल की समस्या पर समिति की स्थापना के अतिरिक्त यह आवश्यक है कि तत्काल ही ब्रिटेन की भाँति उसी प्रतिरूप का एक उच्च शक्ति सम्पन्न आयोग बनाया जाये जो देश के उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन की समूची समस्या पर विचार करे।

जहाँ यह आवश्यक है कि सामान्य रूप से सहकारी पद्धति में और विशेष रूप से उपभोक्ता सहकारी समितियों में समुचित संरचनात्मक परिवर्तन किये जायें, वहाँ सभी सम्बद्ध लोगों को यह अनुभव करना चाहिए कि सहकारितावाद की सफलता का मूल मन्त्र यह है कि सहकार-भावना या सहकार वृत्ति पैदा की जाये। सहकारी संस्थाएँ तभी सफल हो सकती हैं जब उनके विकास के पीछे सहकार की भावना हो। परस्पर सहयोग की वृत्ति भारतीय सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का प्रमुख आकर्षण रही है। इसकी टेक सहकार-भावना है, होड़ नहीं। एक समय था जब धर्म की भित्ति पर टिके भारतीय समाज में हमारे पूर्वजों ने एक राज्य-विहीन समाज का गठन किया था, जिसमें परस्पर सहकार पर आधारित विभिन्न आत्म-निर्भर संगठनों का समावेश था। वहाँ न राज्य था, न राजा था, न दण्ड था, न दण्ड देने वाला; धर्म के बल पर प्रजा परस्पर सबकी रक्षा करती थी।

"न राज्यं नैव राजाऽसीत् न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥"

सहकारी पद्धति तभी सफल हो सकती है जब हम ऋग्वेद में वर्णित धर्म की इस भावना को पुनः प्रतिष्ठित करने का व्रत लें :

'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः।'
(मानव मानव की रक्षा चहुँ ओर से करे।)

मुझे पूर्ण विश्वास है कि ऋग्वेद के इस उद्धरण में आप भी मेरे साथ होंगे—

समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वा सुसहासति॥
समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रम् अभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

(१ जनवरी, १९७४)

भारतीय मजदूर संघ तथा सम्पूर्ण क्रान्ति

भारतीय मजदूर संघ सच्चे मजदूर संघवाद के सिद्धान्त पर चलने वाला भारतीय मजदूरों का महासंघ है। भारतीय मजदूर संघ के संविधान में 'क्रान्ति' शब्द का कहीं उल्लेख नहीं है। वह भारतीय मजदूर संघ के सक्रिय कार्यकर्ताओं को 'क्रान्तिकारी' होने की विशिष्टता प्रदान नहीं करता। दूसरे शब्दों में, भारतीय मजदूर संघ उनसे आशा करता है कि वे सच्चे मजदूर संघवादी बनें। वे स्वयं भी राष्ट्र-निर्माता बनने की लालसा रखते हैं। वे भारतीय मजदूर संघ के कार्य को राष्ट्र-निर्माण का ही अभिन्न अंग मानते हैं।

क्या इसका अर्थ यह है कि भारतीय मजदूर संघ प्रतिक्रियावादी अथवा रूढ़िवादी है? 'प्रतिक्रियावादी' वह है जो किसी बात पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करे। उदाहरण के लिये, फ्रांस के राजनीतिक दर्शनशास्त्री लुई बोनाल्ड और जोसेफ दमैस्त्रे को 'प्रतिक्रियावादी' माना जाता है, क्योंकि उन्होंने उन विचारों पर प्रतिक्रिया व्यक्त की थी जिनके कारण फ्रांस की क्रान्ति हुई थी। किन्तु उन्हें माण्टेग्यू और ह्यूम जैसे संशयवादी रूढ़िवादियों के साथ नत्थी नहीं किया गया, जो वर्तमान संस्थानों को बनाये रखना उचित समझते थे। राजनीतिक क्षेत्र में 'रूढ़िवादिता' शब्द का प्रचलन १८३० के दशक में हुआ, परन्तु दर्शन के क्षेत्र में उसका पदार्पण १७९१ में हो गया था जब एडमण्ड बर्क का 'रिफ्लेक्शंस ऑन द रिवोल्यूशन इन फ्रांस' (फ्रांस की क्रान्ति पर पुनः दृष्टिपात) प्रकाशित हुआ। किन्तु आज की अधिक प्रचलित दृष्टि यह है कि रूढ़िवादी तथा आमूल परिवर्तनवादी, दोनों ही प्रगति के लिए प्रयास करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि सावधानी मिश्रित प्रगतिवाद रूढ़िवाद है और दुस्साहसपूर्ण प्रगतिवाद आमूल परिवर्तनवाद है।

श्रमिक संघ आन्दोलन के प्रारम्भिक चरण में श्रमिकसंघ नयी समाज-व्यवस्था के अगुआ समझे जाते थे। फ्रांस का श्रमिक-संघवाद और ब्रिटेन का श्रेणी-समाजवाद एक आमूल परिवर्तनवादी सिद्धान्त के रूप में विकसित हुआ। इसके पीछे यह आदर्श था कि श्रमिक-संघवाद समाज के सभी क्षेत्रों पर लागू हो। किन्तु अनुभव से यह पता चला कि यद्यपि संघों ने राजनीतिक कारणों से बहुधा

हड़ताल की है, पर उन्हें विशेष चिन्ता तात्कालिक आर्थिक लाभ की रही है। उन्होंने दीर्घकालीन क्रान्तिकारी कायापलट की ओर ध्यान नहीं दिया है। तदनुसार लेनिन का मत बना कि श्रमिक वर्ग स्वयं पर्याप्त क्रान्ति प्राप्त नहीं कर सकता, बल्कि वह तो 'श्रमिक-संघवादी' माँगें प्रस्तुत करके ही तुष्ट हो जायेगा। यह मार्ग समझौते पर आकर समाप्त हो जायेगा और बुर्जुआ सत्ता में बना रहेगा। अतः, सर्वहारा में सामाजिक चेतना 'बाहर से' आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले बुद्धिजीवियों द्वारा जाग्रत की जानी चाहिए। लेनिन का विचार था कि यदि श्रमिक स्व-प्रेरणा से कोई कार्य करेंगे तो उससे क्रान्ति की विफलता ही हाथ आयेगी। क्रान्ति का संगठन सर्वहारा और बुद्धिजीवी, दोनों ही वर्गों के पूर्णकालिक व्यावसायिक क्रान्तिकारियों को ही करना चाहिए जो कठोरतम, अति केन्द्रित और षड्यन्त्रपरक अनुशासन में बँधे हों। (मार्क्सवाद की प्रेरणा के अतिरिक्त, क्रान्ति की लेनिनवादी प्रविधि के स्वैच्छिक और षड्यन्त्रपरक पक्षों में रूसी क्रान्ति के और अधिक परम्परागत प्रतिरूप परिलक्षित होते हैं।)

फ्रान्स का श्रमिक-संघवाद सार्वजनिक हड़ताल के द्वारा क्रान्ति लाना चाहता था, पर वह श्रमिक-संघों को क्रान्ति का अस्त्र नहीं बना सका, जबकि फ्रांस में संगठन पर्याप्त फला-फूला और श्रमिक-संघों का वहाँ बोलबाला रहा।

ब्रिटेन तो मजदूर संघवाद का पालना ही रहा, पर वहाँ के संघों ने कभी भी क्रान्ति की विचारधारा नहीं अपनायी। श्रमिक-संघ के अधिकार पाने के लिए उन्हें लम्बे और कड़े संघर्ष करने पड़े। किन्तु उन्होंने यह लक्ष्य विधान के द्वारा प्राप्त किया। विधान भी सामान्यतः व्यापक रूप से मान्य प्रथाओं के बाद ही बनता था। 'विधान का मन्तव्य होता था फिसड्डियों के अल्पमत को खींचकर उस प्रथा की पंक्ति में बैठाना जो उद्योग में व्यापक रूप से मानक प्रथा के रूप में व्याप्त हो गयी हो।' अधिकांश प्रकरणों में अन्तिम विधान का आधार उन स्वैच्छिक समझौतों और प्रबन्धों में निर्दिष्ट था जो उद्योग में संगठित नियोजकों और संगठित श्रमिकों के बीच हुए। ब्रिटिश मजदूर संघ आन्दोलन की कार्यसूची में क्रान्ति जैसी कोई बात थी ही नहीं।

यूरोप में समाजवादी आन्दोलन सामान्यतः सुधार और लोकतन्त्र का अनुगामी रहा। 'सोशलिज्म' (समाजवाद) शब्द प्रथम बार इंग्लैंड में १८२७ में 'कोआपरेटिव मैगजीन' में प्रयुक्त हुआ। इस पत्रिका में ओवेन का विचार व्यक्त किया गया था। १८३२ में इस शब्द का प्रचलन फ्रांस में हुआ और वहाँ से होता हुआ यह शब्द यूरोप और अमरीका पहुँचा। यह सिद्धान्त निर्बाध व्यापार अथवा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विरोध में खड़ा हुआ। परन्तु गैर मार्क्सवादी समाजवाद का प्रयास रहा यह कि विद्यमान समाजों के रूप में समग्र रूप से सुधार द्वारा परिवर्तन लाया जाये। पश्चिम के अधिकांश गैर-कम्युनिस्ट श्रमिक संघ लोकतन्त्री

समाजवाद के इसी 'ब्राण्ड' से जुड़े हैं।

सिद्धान्ततः फासिज्म इस बात का समर्थन करता है कि अपने-अपने उद्योगों के प्रबन्ध में श्रमिक भाग ले सकते हैं। उसके व्यवहार पक्ष ने जार्जेस सोरेल जैसे श्रमिक-संघवादियों से प्रेरणा प्राप्त की। परन्तु यह समाजवाद का विरोधी था, क्योंकि समाजवाद वर्ग-संघर्ष का प्रचार करता है, जबकि फासिज्म समूचे समाज को एक ऐसे राष्ट्र के रूप में सुगठित करना चाहता था जिसका एक समान हित हो और एक समान आकांक्षा हो। किन्तु उसने श्रमिक-संघों को फासिस्ट क्रान्ति का साधन नहीं बनाया अथवा नहीं बना सका।

यह ठीक ही कहा गया है कि हर क्रान्ति अपना अलग इतिहास लिखती है। हर क्रान्ति अपनी अलग प्रविधि (टैक्नीक) एवं प्रणाली का विकास करती है। और, यह भी सच है कि जयप्रकाश बाबू की 'सम्पूर्ण क्रान्ति' पश्चिम की क्रान्तियों से इस अर्थ में गुणात्मक रूप से भिन्न है कि वह शान्तिपूर्ण और अहिंसात्मक उपायों से प्रतिबद्ध है। फिर भी, क्रान्ति क्रान्ति ही होती है और अन्य पिछली सभी क्रान्तियों के अनुभव से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। जहाँ तक क्रान्ति से पूर्व की आवश्यकताओं और साधनों का सम्बन्ध है, विगत क्रान्तियों और हमारे अपने देश में परिकल्पित क्रान्ति में पर्याप्त समान आधार है।

किसी भी क्रान्ति के पूर्व, चाहे वह रक्तरंजित हो अथवा बार्थलेमी द लाइट के कथन—'जितनी अधिक हिंसा उतनी फीकी क्रान्ति'—के अनुसार रक्तपात-रहित हो, जनसाधारण की क्रान्ति-विषयक शिक्षा अति आवश्यक है।

क्रान्ति का यह शिक्षा एवं संवादपरक अंश ही एक ऐसा सर्वाधिक प्रभावी साधन है जो क्रान्ति को संस्थाकरण एवं स्तरीकरण के द्वार से क्रान्ति-विरोधी नौकरशाही के चंगुल में फँसने से रोक सकता है, क्योंकि क्रान्तिकारी ही प्रतिक्रियावादी हो जाने पर प्रतिक्रान्ति को जन्म देते हैं।

क्या आज हमारे साथ इस प्रकार के सक्रियतावादी हैं जो इस मन्द और धैर्यापेक्षी कार्य (जन-शिक्षा) का बीड़ा उठायेंगे? अथवा क्या यह (सम्पूर्ण क्रान्ति) केवल 'वोट' बटोरने वाला एक नारा है, एक सहज मार्ग अगले महा-निर्वाचन में सफलता प्राप्त करने का है? जो लोग भारतीय मजदूर संघ से सम्पूर्ण क्रान्ति की विचारधारा का अनुमोदन करने का आग्रह करते हैं, उन्हें ही दो टूक शब्दों में पहले इस प्रश्न का उत्तर देना होगा।

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की विचारधारा

(परिचयात्मक टिप्पणी)

जब मेरी दृष्टि आज के विषय पर पड़ी तो मैं कुछ असमंजस में पड़ गया। प्रथम ही शब्द 'आइडियोलॉजी' (विचारधारा) है। अंग्रेज़ी उतनी वैज्ञानिक भाषा नहीं है, जितनी संस्कृत। अंग्रेज़ी में अनेक भ्रामक शब्द हैं। 'आइडियोलॉजी' भी उनमें से एक है। पर मैं यह मानकर चलता हूँ कि हम उसका प्रयोग प्रचलित अर्थ में कर रहे हैं। वैसे अंग्रेज़ी के अनेक शब्द समय-समय पर गिरगिट की भाँति अपना रंग बदलते रहे हैं।

हम राष्ट्रीय पुनर्निर्माण पर विचार कर रहे हैं। प्रथम शब्द ही यह बोध कराता है कि हम एक राष्ट्र का रूप धारण कर चुके हैं, हमारा राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया से नहीं गुज़र रहा है। कुछ संरचना बनी बनायी है, उसी को हम फिर से बनाना चाहते हैं। ये दोनों बातें उसमें निहित हैं। हम सभी चाहते हैं कि हमारा राष्ट्र प्रगति करे। किन्तु साथ ही, जैसाकि हमारे परमेश्वरन् जी ने कहा है, विभिन्न दृष्टिकोण हैं। मेरे विचार से आप मेरी इस बात से सहमत होंगे कि इस विषय पर विचार करने में हम उतने उन्मुक्त नहीं हैं जितने कि अमरीका के आदि-निर्माता उस समय थे जब वे प्रथम बार अपने नवनिर्मित राज्य के संविधान के प्रारूपण के लिए एकत्र हुए थे। वह एक नवनिर्मित राज्य था, भले ही वह राष्ट्र नहीं था। उन्हें तो कोरी पट्टी पर लिखना था। न कोई इतिहास था, न कोई परम्परा। अतः वे हमसे एक भिन्न स्थिति में थे। फ्रांस और रूस में जिन क्रान्ति-कारियों ने फ्रांसीसी और रूसी क्रान्तियाँ करायीं, वे भी भिन्न स्थिति में थे। वे परिवर्तन, अर्थात् जिसे वे क्रान्ति कहते थे, लाना चाहते थे। उनका विश्वास था कि उन्हें न केवल अपने-अपने समाज के ऊपरी ढाँचे को ही, बल्कि आधार को भी बदलना था। अतः उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति की बात सोची। सम्पूर्ण क्रान्ति शब्द का अर्थ है घोर परिवर्तन; न केवल समाज के ऊपरी ढाँचे में, बल्कि आधार में भी। हम उस स्थिति में नहीं हैं। कारण सीधा सा है। हमारा विचार है कि हमारे समाज के आधार को बदले जाने की आवश्यकता नहीं है। वह अभी उतना पुराना और दुर्बल नहीं हुआ है। हमारा आधार सदा ही धर्म रहा है। हमें ज्ञात है कि धर्म के दो अंग हैं। एक तो सार्वभौम नियम हैं, जिन्हें हमारे दिव्य-द्रष्टाओं ने देखा

था। न उन्हें बनाया गया था और न ही उनकी रचना की गयी थी। उन द्रष्टाओं ने दिव्य दृष्टि से उन्हें देखा-भर था। दूसरे, उन सार्वभौम नियमों को ध्यान में रखते हुए समय-समय पर उन्होंने समाज का पुनर्निर्माण किया। सार्वभौम नियम सनातन हैं, शाश्वत हैं। किन्तु उन्हें दृष्टि में रखते हुए हमने समय-समय पर अपने समाज के ऊपरी ढाँचे में परिवर्तन किया है। विभिन्न स्मृतियों के विभिन्न नियम और विनियम हैं। अतः जब धर्म हमारा आधार है तो हम कदापि वैसे घोर परिवर्तन की बात नहीं सोच सकते, जैसेकि फ्रांस और रूस के क्रान्तिकारियों ने सोचा था और उसे सम्पूर्ण क्रान्ति की संज्ञा दी थी।

हमारा एक प्राचीन राष्ट्र है। हम गत १२ शतियों से विदेशी आक्रामकों से जीवन-मरण के कठोर संघर्ष में जूझते रहे हैं। इसी कारण हमारे पास पहले की भाँति समय नहीं था कि हम बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन कर सकते। इसी ने गतिरोध को जन्म दिया और उसके फलस्वरूप समाज में अनेक विकृतियाँ और भ्रष्टाचार पनपे। किन्तु जैसाकि पूज्य महात्मा जी ने कहा है, हमें समाज से उन विकृतियों और कदाचारों को तो दूर करना है, पर हमें गंदले पानी को ही बाहर फेंकना है, 'टब' समेत बच्चे को नहीं। अतः कुछ करने से पूर्व हमें यह सोचना है कि हमारे राष्ट्रीय ढाँचे के कौनसे अंग बेकार और पुराने हो गये हैं जिन्हें नयी समाज-रचना की दृष्टि से निकालना होगा।

हमारे आधार अति सुदृढ़ हैं। वे न केवल हमारे राष्ट्र के लिए, अपितु समूची मानवता के लिए उपयोगी हैं। अतः स्वाभाविक है कि हम उन आधारों, अर्थात् धर्म की दृष्टि से सोचें। हम अपने अतीत की अवहेलना नहीं कर सकते, पर इसका अर्थ यह नहीं कि गत बारह शतियों के गतिरोधकाल में हमसे जो भूल-चूक हुई, उसे हम आगे भी ढोते रहें। इसलिये हमारे पूज्य गुरुजी ने कहा है कि हमारी बढ़ोत्तरी पेड़ के समान होनी चाहिए। पेड़ पनपता है, बढ़ता है। समय आने पर कुछ पत्तियाँ और शाखाएँ सूख जाती हैं; या तो वे गिर जाती हैं, या फिर हम उन्हें काट डालते हैं। किन्तु साथ ही हमें पूरा ध्यान रहता है कि जीवन-धारा बनी रहे, उसका क्रम न टूटने पाये। इसी पृष्ठभूमि में हमारा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण हो सकता है। वह केवल धर्म के आधार पर हो सकता है। धर्म की प्रकृति क्या है, यह मैंने अभी-अभी बताया है। वह शाश्वत है, उसके सार्वभौम नियम सनातन हैं। उसी को ध्यान में रखते हुए सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन होते रहते हैं। यही आधार होना चाहिए। मैं नहीं जानता कि 'आइडियोलॉजी' (विचार-धारा) के ढाँचे में इस धर्म का समंजन किया जा सकता है या नहीं।

'क्रान्ति' शब्द आपके लिये नया नहीं है। मूलतः उसका जो अर्थ था, वह अर्थ आज नहीं है। किन्तु फ्रांस की क्रान्ति के समय जब मन्त्री ने स्तम्भित होकर कहा,

"श्रीमन्, यह तो क्रान्ति है," तब इस शब्द का अर्थ ही बदल गया। मेरा तात्पर्य यह है कि मैं शब्दों के पीछे नहीं भागता, क्योंकि कहा गया है कि अक्षर मारक भी बन सकता है। किन्तु धर्म हमारा आधार होना चाहिए। उसके आधार पर आज या कल या परसों या किसी भी परिस्थिति में हम अपने राष्ट्र का पुनर्निर्माण कर सकते हैं। यही एक ऐसी वस्तु है जो कभी पुरानी नहीं पड़ती। यह सनातन है, सनातन अर्थात् सदाबहार।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की विभिन्न समस्याएँ होती हैं। हमें उनपर विचार करना है, उनका समाधान खोजना है। प्राचीन काल में हमारा समाज गतिशील था और धर्म एक जीवन्त शक्ति था। उसके आधार पर हम समय-समय पर अपने समाज का पुनर्निर्माण किया करते थे।

उदाहरण के लिए, राजनीतिक जीवन के बारे में हम जानते हैं कि विभिन्न कालों में, विभिन्न क्षेत्रों में हमने प्रशासन के विभिन्न रूपों का प्रयोग किया है, जैसाकि इस मन्त्र में कहा गया है :

ॐ स्वस्ति साम्राज्यं भोज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमैष्ठ्यं राज्यं
महाराज्यमाधिपत्यम् ॥

ये सभी शासन के विभिन्न रूप हैं। कई नये रूप भी हो सकते हैं। हमने अराजकता को भी भोगा है। यही दशा अर्थशास्त्र के क्षेत्र में है। विभिन्न स्मृतियों में आप देखेंगे कि आर्थिक जीवन के बारे में नियम और विनियम एक से नहीं हैं। पर जैसाकि श्री गुरुजी ने बल दिया है, मूल सिद्धान्त एक था :

यावद्भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

अर्थात् जितने से तुम्हारा पेट भर जाये, केवल उसी पर तुम्हारा वैध अधिकार है, जो उससे अधिक की कामना करता है, वह चोर है और दण्ड का भागी है। और

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥

ये सब मोटे-मोटे सिद्धान्त हैं, किन्तु केवल मोटे सिद्धान्तों से अर्थव्यवस्था का पेट नहीं भरता। इसलिये स्मृतियों में आर्थिक जीवन के बारे में नियम और विनियम दिये गये हैं और वे एक-दूसरे से भिन्न हैं। अतः जीवन के हर क्षेत्र में धर्म का अपना प्रकाश है। जैसाकि मैं बता चुका हूँ, पिछली १२ शतियों में धर्म अपनी इस भूमिका का निर्वाह नहीं कर सका, क्योंकि हमारे सामने जीवन-मरण का विकट संघर्ष था। अब हम दासता से मुक्त हैं। अब हम धर्म के शाब्दिक रूप ही नहीं, आत्मा तक पहुँच सकते हैं और उसके आधार पर अपने राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का पुनर्गठन कर सकते हैं। मेरे विचार में यही कारण

है कि जब पण्डित दीनदयाल जी ने जनसंघ के प्रथम घोषणा-पत्र का प्रारूप तैयार किया तो उसमें धर्मराज्य के सिद्धान्त को भी स्थान दिया। राजनीतिक दल का घोषणा-पत्र होने के कारण वहाँ राज्य शब्द का प्रयोग किया गया, जो उचित था। किन्तु उन्होंने धर्म की अवधारणा को जो महत्त्व दिया, वह इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि धर्मराज्य को आस्था का तत्त्व—एक सिद्धान्त—माना गया। वे सिद्धान्त के पक्के, दृढ़ आस्था वाले, व्यावहारिक व्यक्ति थे। इसलिये उन्होंने सिद्धान्त के रूप में 'धर्मराज्य' शब्द को चुना, जो न तो आडम्बरपूर्ण था, न ही कल्पना-प्रधान। मेरे विचार में यह हमारी चिन्तन-प्रक्रिया के लिए प्रकाश-स्तम्भ होना चाहिए।

मार्क्स और मार्क्सवाद के बारे में

प्रश्न : यह वर्ष मार्क्स का शताब्दी-वर्ष है। मैं जानना चाहूँगा कि मार्क्स, मार्क्सवाद अथवा कम्यूनिज्म के बारे में आपका क्या मूल्यांकन है ?

उत्तर : आपके प्रश्न से ऐसा लगता है कि आपके विचार में मार्क्सवाद और कम्यूनिज्म पर्यायवाची हैं। किन्तु ऐसा है नहीं।

प्रश्न : क्या दोनों में कोई अन्तर है ?

उत्तर : है। इस बारे में तो विवाद हो सकता है कि क्या मार्क्सवाद दर्शन मात्र है और कम्यूनिज्म उसपर आधारित राजनीति का व्यावहारिक रूप, किन्तु इतना निश्चित है कि मार्क्सवाद और कम्यूनिज़्म दो अलग परिमण्डल हैं और यद्यपि वे दोनों एक-दूसरे का बहुत कुछ आच्छादन करते हैं, पर वे एक जैसे नहीं हैं। उदाहरण के लिए, यह बताया गया है कि सर्वाधिकारवाद के पक्षधर न होकर मार्क्स व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के प्रबल समर्थक थे। निरंकुश राज्य (तानाशाही) के उत्थान में उनका योगदान न्यूनतम, लगभग संयोगवश रहा है। उन्होंने 'सर्वहारा की तानाशाही' की कल्पना तो की थी, किन्तु स्पष्ट रूप से यह भी कह दिया था कि राज्य के साथ-साथ वह विघटित हो जायेगी। कम्यूनिस्ट तानाशाहियों के उदय का अधिक श्रेय उन परिस्थितियों को है, जिनमें रूस में बोल्शेविक क्रान्ति सफल हुई। उसके लिए गुप्त रूप से राजनीतिक कार्य की आवश्यकता पड़ी थी, जिससे प्रभावित होकर लेनिन ने 'लोकतन्त्रीय केन्द्रवाद' के सिद्धान्त को दल-संगठन का मूल मन्त्र बना लिया और जनता में लोकतन्त्रीय परम्पराएँ विद्यमान थीं नहीं।

यह अधिक उचित होगा कि मार्क्सवाद और कम्यूनिज्म के विभिन्न विद्यमान रूपों में भेद किया जाये और पहले को दूसरे की सभी प्रकार की भूल-चूक के लिये उत्तरदायी न ठहराया जाये।

प्रश्न : क्या आप मार्क्सवाद का विरोध इसलिये करते हैं कि आप 'हिन्दूइज्म' (हिन्दूवाद) के पूर्ण समर्पित अनुयायी हैं ?

उत्तर : मैं किसी 'इज्म' (वाद) का अनुयायी नहीं हूँ। मैं तो केवल रा०स्व० संघ का प्रचारक हूँ। मुझे तो कोई ऐसी विचार-पद्धति देखने को नहीं मिली जिसे 'हिन्दूइज्म' (हिन्दूवाद) की संज्ञा दी जा सके। हिन्दू तो कम्यूनिज्म

समेत विभिन्न विचार-पद्धतियों के अनुयायी हैं। अंग्रेजी में 'हिन्दुत्व' का सही पर्याय 'हिन्दूनेस' है, 'हिन्दूइज्म' नहीं।

आपकी जानकारी के लिये मैं बताना चाहूँगा कि एक निष्ठावान हिन्दू श्री विष्णु बुवा ब्रह्मचारी ने १८६७ में मार्क्स के ही जैसे कम्यून के विचार की संकल्पना की थी और उसे मराठी में प्रकाशित किया था। १८६७ में ही 'दास कैपिटल' का प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ था। ये दोनों प्रलेख लगभग साथ-साथ प्रकाशित हुए थे।

प्रश्न : मेरे विचार में आप मार्क्स का ठीक मूल्यांकन नहीं कर पा रहे हैं, क्योंकि उनकी भविष्यवाणियाँ ठीक नहीं निकलीं।

उत्तर : ऐसी बात नहीं है। यह सत्य है कि घटनाक्रम मार्क्स की भविष्य-बाणी के अनुरूप नहीं चला। अपनी मृत्यु से कुछ ही सप्ताह पूर्व १८९५ में एंजेल्स ने लिखा था, "इतिहास ने हमें और हमारे जैसे ही विचार रखने वालों को गलत सिद्ध कर दिया है।" पुनश्च "और पुनः इसने सिद्ध कर दिया है कि हमारी कृति में वर्णित समय के बीस वर्ष बाद भी श्रमिक वर्ग का यह शासन कितना असम्भव है·····किन्तु इतिहास ने हमें भी गलत सिद्ध कर दिया है। उसने जता दिया है कि उस समय का हमारा दृष्टिकोण सम्भ्रम था।" मार्क्स की भविष्यवाणी के बारे में एंजेल्स ने कहा है, "आश्चर्य यह नहीं है कि उनमें से अनेक असत्य सिद्ध हुई हैं, वरन् आश्चर्य यह है कि उनमें से बहुत-सी सही सिद्ध हुई हैं।"

किन्तु हम मार्क्स को इस आधार पर अस्वीकार नहीं करते। हम जानते हैं कि भविष्यवाणी का सत्य या असत्य होना किसी सिद्धान्त की वैधता निश्चित करने के लिए एकमात्र तो क्या, प्रमुख कसौटी भी नहीं हो सकता।

हम एंटोनियो ग्रैमसी, ज्योरगी लुकाक्स, और माओ त्से डोंग के इस कथन से सहमत हैं कि भविष्य को आँकने में असफलता से मार्क्सवाद की वैधता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस वैधता को उसके अपने गुण के आधार पर आँका जा सकता है। उसके अवगुण के आधार पर ही हमने मार्क्सवाद को अस्वीकार किया है। किन्तु यह इस बात का अवसर नहीं है कि हम इस विषय पर सविस्तार चर्चा करें।

प्रश्न : यह दावा किया जाता है कि मार्क्स नितान्त मौलिक चिन्तक थे।

उत्तर : ऐसा लगता है कि चिन्तन की मौलिकता के बारे में लोगों की विचित्र-विचित्र धारणाएँ हैं। जिस प्रकार आप शून्य में जीवित नहीं रह सकते, उसी प्रकार शून्य में चिन्तन भी नहीं कर सकते। शून्यता से नये विचारों का आविर्भाव नहीं होता। प्रत्येक चिन्तक पिछले तथा समसामयिक चिन्तकों से कुछ-न-कुछ ग्रहण करता है। इसका कोई अर्थ नहीं कि आप उसे उधार लेना कहें, आत्मसात् करना कहें या प्रभावित होना कहें। मौलिकता तो इस बात में है कि उपलब्ध ज्ञान को आत्मसात् करके उसके आधार पर अपनी निजी, अनोखी और नवीन अनुभूति,

कल्पना-शक्ति, व्याख्या एवं अभिव्यक्ति के माध्यम से नितान्त नये निष्कर्ष, नयी उपलब्धि, नये आविष्कार अथवा नये दृष्टिकोण की स्थापना की जाये। उधार लेने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह स्वाभाविक है, अपरिहार्य है और बहुधा लाभकारी होता है। क्या न्यूटन ने नहीं कहा था कि वह दूसरों की अपेक्षा अधिक दूरी तक देख सकता है, क्योंकि वह पिछले दिग्गजों के कन्धों पर खड़ा हुआ है ? इससे हमारी दृष्टि में न तो न्यूटन बौना हो जाता है और न ही पिछले दिग्गज।

प्रश्न : क्या आपका तात्पर्य यह है कि मार्क्स ने भी दूसरों से उधार लिया था ?

उत्तर : यही है।

प्रश्न : मार्क्स की इस उधार वृत्ति का कोई उदाहरण आप दे सकते हैं ?

उत्तर : अवश्य, उदाहरण प्रस्तुत हैं —

जी० डी० एच० कोल का कहना है कि रेडबर्टस और मार्क्स, दोनों ने पिछले समान सूत्रों से समान रूप से ग्रहण किया है और इस धारणा के पीछे कुछ बल है कि अपनी बाद की रचनाओं में, विशेष रूप से जब मार्क्स ने अति उत्पादन और व्यापार-संकट सम्बन्धी समस्याओं का विवेचन किया, कतिपय विचारों के प्रतिपादन में वह रेडबर्टस से प्रभावित हुआ।

मारैट से मार्क्स ने यह विचार ग्रहण किया—"आपको केवल अपनी दासता की बेड़ियों से हाथ धोना है" और "श्रमिकों का कोई देश नहीं होता।"

बालंकी और बावेफ़ के १७९६ के घोषणा-पत्र से "सर्वहारा की तानाशाही।"

कार्ल शैपर से—"विश्व के श्रमिको ! एक हो जाओ"। 'अनर्जित आय', जो श्रमिकों के श्रम से निचोड़े गये 'अतिरेक' का रूप धारण करली है, मार्क्स ने सेण्ट साइमन और रेडबर्टस से ग्रहण की।

'अति उत्पादन के संकट' सिसमोंडे से ग्रहण किया। प्रूधों की भी यही धारणा थी।

'कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र' बहुत कुछ सिसमोंडे के लेखों से प्रभावित था।

'कम्यूनिज्म' शब्द मार्क्स ने नहीं गढ़ा था। मौरिस क्रैन्स्टन के अनुसार, 'कम्यूनिज्म' शब्द को सर्वप्रथम लोकप्रियता ओवेनाइट लेखकों ने १८४० के दशक में इंग्लैंड में प्रदान की। उनके लेखन में यह फ्रांसीसी शब्द 'कम्यूनिज्मे' का अंग्रेजी लिप्यन्तरण मात्र था। यह ओवेनाइट शब्द, अर्थात् 'कम्यूनिज्म' मार्क्स द्वारा अपने निजी सिद्धान्त के लिये प्रयुक्त कर लिया गया और तब बाद में ओवेनाइट लेखकों को 'ओवेनिज्म' के विवेचन के लिये 'कम्यूनिटेरियनिज्म' शब्द का प्रयोग करना पड़ा।

सामान्य धारणा यह है कि 'वर्ग-संकल्पना' अथवा 'वर्ग-संघर्ष' की संकल्पना

मार्क्स की देन है, पर ऐसा है नहीं। मार्क्स ने कहा है, "जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, आधुनिक समाज में वर्गों के अस्तित्व अथवा उनके बीच संघर्ष की खोज का श्रेय मेरा नहीं है। मुझसे बहुत पूर्व बुर्जुआ इतिहासकार इस वर्ग-संघर्ष के ऐतिहासिक विकासक्रम को बता चुके हैं, बुर्जुआ अर्थशास्त्री वर्गों की आर्थिक संरचना को समझा चुके हैं। मेरा केवल यह विवेचन नया था कि मैंने सिद्ध किया : (१) वर्गों का अस्तित्व उत्पादन के विकास में केवल विशिष्ट ऐतिहासिक चरणों से जुड़ा है, (२) वर्ग-संघर्ष आवश्यक रूप से सर्वहारा की तानाशाही को जन्म देता है, (३) यह तानाशाही स्वयं में केवल बीच की कड़ी है, जबतक कि सभी वर्गों का उन्मूलन न हो जाये और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना न हो जाये..."

इस प्रकार यह धारणा मिथ्या है कि मार्क्स इन संकल्पनाओं का जनक था।

किन्तु जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, इससे एक चिन्तक के रूप में मार्क्स की महानता कम नहीं होती। प्रत्येक चिन्तक को इस अवस्था को पार करना होता है।

प्रश्न : मार्क्स का आपका मूल्यांकन क्या है ?

उत्तर : किसी भी महान् व्यक्ति का मूल्यांकन कोई सरल काम नहीं होता, क्योंकि उनके प्रति दोनों ने अन्याय किया होता है, उनके विरोधियों ने भी और उनके अनुयायियों ने भी। किसी ने ठीक ही कहा है कि जब भगवान् किसी महापुरुष को दण्डित करना चाहता है तो वह उसकी झोली में चेले डाल देता है। किन्तु अब तक मार्क्स के बारे में दो तथ्य पर्याप्त उभरकर सामने आ चुके हैं: एक तो उनकी महानता और दूसरा उनके नाम से तथा उनके झण्डे तले किये गये प्रयोगों की विफलता।

प्रश्न : उनके अनुयायियों के बारे में आपका विचार.....।

उत्तर : उदाहरण के लिये, पूज्य श्री गुरु जी कहा करते थे कि मार्क्स अनगढ़ भौतिकवादी नहीं थे, जैसाकि उन्हें उनके अधिकांश चेलों ने चित्रित किया है। उनका प्रेरणा-स्रोत नीतिशास्त्र था। वैसे उन्होंने यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कही है, क्योंकि यूरोपीय मानस में नीतिशास्त्र धर्म और चर्च से जुड़ा है। उन्होंने अर्थशास्त्र को अपना हथियार बनाया और अमानवीकरण एवं निःस्वत्वीकरण का जो खण्डन उन्होंने किया है, उसका औचित्य नैतिक आधार पर सिद्ध होता है, केवल आर्थिक आधार पर नहीं। श्री गुरुजी भी बिना किसी लाग-लपेट के अमानवीकरण और निःस्वत्वीकरण (एलिअनेशन) की निन्दा करते थे।

हरबर्ट मारक्यूस जैसे नये वामपन्थी नेताओं का भी विचार है कि आर्थिक शोषण ही निःस्वत्वीकरण का एकमात्र कारण नहीं है। श्री गुरुजी ने मार्क्स की आलोचना सैद्धान्तिक आधार पर की है, किन्तु जहाँ तक मार्क्स की प्रेरणा का सम्बन्ध है, उसके बारे में गुरुजी की पैठ अधिकांश भारतीय कम्युनिस्टों से कहीं अच्छी और गहरी थी।

कम्युनिस्ट जगत् में भी हर कम्युनिस्ट समूह अन्य सभी कम्युनिस्टों का उपहास करते हुए उन्हें 'संशोधनवादी' अथवा 'भटकाववादी' ठहराता है। संसार-भर में कम्युनिस्टों ने कम्युनिस्टों को जो ऐसे प्रमाण-पत्र दिये हैं, यदि उन्हें एकत्रित किया जाये तो एक ही निष्कर्ष निकलेगा कि विश्व भर का कम्यूनिज्म संशोधनवादी या भटकाववादी हो गया है।

मार्क्स के प्रति उनके चेलों ने जो यह अन्याय किया है, वह कोई नयी बात नहीं है। उदाहरण के लिये एंजेल्स की ये टिप्पणियाँ देखिए :

"आजकल उन लोगों के लिये इतिहास की भौतिकवादी संकल्पना बड़े काम की वस्तु है, जो इतिहास के अध्ययन का कष्ट नहीं उठाना चाहते।"

"सामान्य रूप से, जर्मनी के अनेक युवा लेखकों के लिये भौतिकवादी शब्द एक ऐसा मुहावरा बन गया है जो और अध्ययन के पचड़े में पड़े बिना कहीं भी, कभी भी जड़ दिया जा सकता है। वे इस मुहावरे की रट लगाते हैं और समझते हैं कि समस्या सुलझ गयी।"

"और जहाँ तक हमारे अपने दल का सम्बन्ध है....जर्मन कम्युनिस्ट दल का एक बड़ा भाग मुझसे इसलिये रुष्ट है कि मैंने उनके काल्पनिक आदर्शलोक और उनके बखानों का विरोध किया है।"

एंजेल्स ने ही कहा है—

"जिन लोगों ने वास्तव में कुछ किया है, उन्होंने स्वयं देखा होगा कि जो युवा साहित्यकार दल से अपना नाता जोड़ते हैं, उनमें से कितने यह कष्ट उठाते हैं कि अर्थशास्त्र का, उसके इतिहास का, व्यापार, उद्योग, कृषि के इतिहास का, समाज की संरचना के इतिहास का अध्ययन करें....बहुधा ऐसा लगता है मानो इन सज्जनों के विचार में कोई भी बात श्रमिकों के लिये अचूक है। काश ! ये सज्जन इतना जान लेते कि मार्क्स के विचार से तो उनकी सर्वोत्तम बातें भी अभी इस योग्य नहीं थीं कि श्रमिकों के लिये पर्याप्त अच्छी मानी जा सकें और वह तो इसे अपराध समझते थे कि श्रमिकों के हाथ में सर्वोत्तम को छोड़कर कोई अन्य वस्तु पकड़ा दी जाये।"

भारत में, बर्नस्टीन के संशोधनवादी और लेनिन के बोल्शेविक विचारों के बीच मध्य-मार्ग का अनुसरण करने वाले कैनटस्की, केरेंस्की, वेलेसले, लिन्स्की तथा अन्य के विचारों के माध्यम से प्लेखानोव से लेकर लेनिन तक हजारों शब्दों में कम्युनिस्ट सिद्धान्तों पर हुई बहस को एक छोटी-सी परिधि में समेटते हुए भारत के उच्चतम न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों ने देश के एक प्रख्यात कम्युनिस्ट नेता के बारे में निम्नलिखित टिप्पणी की है : "हमें सन्देह है कि कहीं यदि उन्होंने (कम्युनिस्ट) साहित्य को पढ़ा भी है तो क्या उन्होंने उसे पूरी तरह समझा भी है।" और "या तो उन्होंने अनजाने में अथवा जानबूझ कर मार्क्स, एंजेल्स और

लेनिन के लेखों को अपने प्रयोजन के लिये तोड़ा-मरोड़ा है। हम नहीं जानते कि कौन सा दृष्टिकोण अधिक उदार होगा···यह स्पष्ट है कि पुनरावेदनकर्ता ने मार्क्स, एंजेल्स और लेनिन की सच्ची शिक्षाओं के बारे में स्वयं को पथभ्रष्ट किया है।"

प्रश्न : यह क्या बात हुई ? आप मार्क्स के सिद्धान्तों का तो खण्डन करते हैं और मार्क्स की प्रशंसा करते हैं ?

उत्तर : यही तो हिन्दू चिन्तन-परिपाटी है। आदि शंकर ने भगवान बुद्ध की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उन्हें योगियों का चक्रवर्ती कहा है :

"य आस्ते कलौ योगिनां चक्रवर्ती स बुद्धः प्रबुद्धोऽस्तुनश्चित्तवर्ती।"

महाभारत युद्ध छिड़ने पर पाण्डवों ने अपने बाण भीष्म, द्रोण आदि के चरणों में अर्पित किये थे। यह हमारी हिन्दू परम्परा है।

दूसरे, मुझे पूरा विश्वास है कि यदि मार्क्स आज जीवित होते तो वे आइन्स्टीन के नवीनतम वैज्ञानिक सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए स्वयं ही अपने सिद्धान्तों की कायापलट कर डालते। इसके अतिरिक्त, उन्हें अपने जीवनकाल में ऐसा कोई विश्राम या अवसर नहीं मिला कि वह हिन्दू धर्म और संस्कृति का अध्ययन कर पाते। यह दुर्भाग्य की बात थी। ऐसे अध्ययन के बल पर वह अपने सिद्धान्तों के अनेक रिक्त स्थानों की पूर्ति कर सकते थे और अपनी सृष्टि-मीमांसा की पुनरीक्षा कर सकते थे, क्योंकि उनका चिन्तन जड़ नहीं था। वह अपने अनुयायियों की भाँति रूढ़िवादी नहीं थे।

प्रश्न : आप उनके अनुयायियों को रूढ़िवादी (लकीर के फकीर) क्यों कहते हैं ?

उत्तर : कम्यूनिज्य का पूरा इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। एक उदाहरण यह नीति-सम्बन्धी वक्तव्य है। एल० आई० ब्रेज़नेव ने ७ अक्टूबर, १९७५ को कांग्रेसों के क्रेमलिन प्रासाद में औपचारिक सत्र में संयुक्त सोवियत समाजवादी गणराज्य विज्ञान अकादमी के वार्षिकोत्सव पर सोवियत विज्ञान के प्रति दल की प्रतिबद्धता के बारे में बोलते हुए कहा था : "मैं विशेष रूप से एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न—हमारे विज्ञान के प्रति दल की प्रतिबद्धता के बारे में कहना चाहूँगा। रूसी वैज्ञानिक ज्ञान की किसी भी शाखा के विषय में काम करते हों, उनमें सदा ही एक अनोखी आकर्षक विशेषता दीख पड़ती है, वह है उनकी उच्च कर्तव्यनिष्ठा और उनका सोवियत देश-प्रेम। रूसी वैज्ञानिक की समूची वैज्ञानिक गतिविधि मार्क्सवाद की वैज्ञानिक विचारधारा पर आधारित होती है। लेनिनवाद कम्यूनिज़म का सक्रिय समर्थक है और किन्हीं भी प्रतिक्रियावादी और पुरातनवादी शक्तियों से संघर्ष करता है। हमारे वैज्ञानिक अपनी सभी व्यावहारिक गतिविधि उच्च कम्युनिस्ट आदर्शों की पूर्ति के महान् व्रत को समर्पित करते हैं।" हमारे बदनाम वेदवादी विवेक के दिवालियेपन, अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता में आधुनिक

मार्क्सवादी से बढ़कर तो नहीं हो सकते। काश वे (मार्क्सवादी) यह अनुभव पर पाते कि कितने बेतुके उनके दावे हैं और कितनी खिल्ली उनकी उड़ेगी यदि इन पर गहराई से विचार किया जाय ! मानो सम्पूर्ण मानव-प्रगति के मूलमन्त्र मार्क्सवाद के पिटारे में हों। इनके बिना रोंजेन न तो एक्स-रे का और न ही एलेक्जैण्डर फ्लेमिंग अपनी पैनीसिलीन की खोज कर पाते। क्या आप जानते हैं कि वेस्लियस के हाथ 'मानव शरीर-रचना' और हार्वे के हाथ 'हृदय-स्पन्दन और रक्त-संचार' क्यों लगा ? वे कहेंगे, इसका भी श्रेय मार्क्स के 'दास कैपिटल' को है। फ्रायड, जुंग और एडलर की उच्चकोटि की प्रतिभा भी मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ही देन है। हमने अभी तक 'साम्यवादियों' की कट्टरता का कोई कूल-किनारा नहीं देखा। जब चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों पर बस्ती बसाने की बात उठेगी, तो निश्चय ही मार्क्सवादी यही कहेंगे कि सभी ग्रह उनके हैं, क्योंकि न तो मार्क्स द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते, न अन्तरिक्ष-विज्ञान की गाड़ी आगे बढ़ती।

ऐसी कट्टरवादिता तो किसी सदाशय से परिपूर्ण सन्त मानव को भी तैमूर, चंगेज़ जैसा महा बर्बर बना सकती है।

किन्तु विश्वास मानिए, इन सब बातों को पश्चिमी कम्युनिस्ट ही पचा सकते हैं, क्योंकि असहिष्णुता अथवा हठधर्मिता उन्हें घुट्टी में मिली है।

प्रश्न : संकेत से आप बता रहे हैं कि भारतीय कम्युनिस्टों की स्थिति भिन्न है ?

उत्तर : निश्चय ही। स्वाभाविक है कि भारत का कम्युनिस्ट मानस जन्म-जात हिन्दू समावेशन और आयातित सामी बहिष्करण के बीच भटक रहा है।

प्रश्न : आप केवल हिन्दू कम्युनिस्टों की बात कर रहे हैं। विभिन्न कम्युनिस्ट दलों में जो अहिन्दू हैं, उनके बारे में आपका क्या मत है ?

उत्तर : राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक दृष्टि से क्या वे वास्तव में अहिन्दू हैं ? मुझे तो शंका है।

प्रश्न : संसार भर में कम्युनिस्टों को सदा ही 'राष्ट्र-विरोधी' कहा जाता रहा है !

उत्तर : १९५० के दशक तक स्थिति भिन्न थी। कम्युनिस्ट जगत् केन्द्र-बिन्दु वाला एक वृत्त था। परन्तु बाद में संसार भर के कम्युनिस्ट शंका करने लगे कि कहीं वे अन्तरराष्ट्रवाद के नाम पर वास्तव में विदेशी राष्ट्रवाद का अनुसरण तो नहीं कर रहे हैं। इसके कारण यूरो-कम्यूनिज्म का जन्म हुआ और विभिन्न 'साम्य-वादी' देशों और दलों के बीच घरेलू झगड़े उठ खड़े हुए। १९६० के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में पालमिरो तोग्लियात्ती ने जब बहुकेन्द्रवाद का प्रतिपादन किया तो उससे एकल केन्द्रीय कम्युनिस्ट जगत् के स्वप्न ध्वस्त हो गये और स्वायत्तता-मूलक प्रतिमानों की ओर रुझान बढ़ता गया। भारत में भी यह अनुभूति पनप

रही है। परन्तु अपनी हिन्दू परम्परा के कारण भारत के कम्युनिस्ट नेताओं की प्रतिक्रिया भिन्न है। वे अपने यूरो-कम्युनिस्ट नेताओं की तुलना में अधिक सहनशील और कम दुराग्रही हैं। यह एक साथ देना भी है और पावना भी।

प्रश्न : कम्युनिस्ट यह पसन्द नहीं करेंगे कि उन्हें हिन्दू परम्परा से जोड़ा जाये। वे इससे अप्रसन्न होंगे।

उत्तर : मैं नहीं जानता। किन्तु निश्चय ही उन्हें यह विदित है कि कार्ल मार्क्स के लिये 'हिन्दू' शब्द की अभिधा राष्ट्रीय भी थी और धार्मिक-सांस्कृतिक भी।

प्रश्न : क्या मार्क्स भारतीय इतिहास और स्थिति से अवगत थे ?

उत्तर : वह सम-सामयिक भारतीय घटनाओं में गहन रुचि रखते थे। यही कारण है कि वह १८५७ के हमारे स्वाधीनता-संग्राम के बारे में नियमित रूप से संवाद एवं लेख लिखते रहे थे। यूरोप में उस समय जो साधन-सामग्री उपलब्ध थी, उनके माध्यम से वह भारतीय इतिहास का अध्ययन करते थे।

जैसाकि मैंने अभी बताया, अपने संवादों तथा अन्य लेखों में मार्क्स ने 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक एवं धार्मिक अर्थ में किया है।

किन्तु वह हिन्दू शास्त्रों के निकट सम्पर्क में नहीं आये।

प्रश्न : जब आप कम्यूनिज़्म की विफलता की बात करते हैं तो क्या आपका तात्पर्य यह है कि अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के हाथ कुछ भी नहीं लगा ?

उत्तर : जब यह कहा जाता है कि कोई आन्दोलन विफल हो गया है तो उसका सीधा सा अर्थ यह होता है कि वह अपने उस उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सका है जिसके लिये वह प्रारम्भ किया गया था। उसका यह अर्थ नहीं होता कि उसके हाथ कुछ भी नहीं लगा। कोई भी आन्दोलन बहुत समय तक नहीं चल सकता यदि उसकी संगति परिस्थिति से न हो। कम्युनिस्ट आन्दोलन का यह कृष्ण पक्ष किसी से छिपा नहीं है। परन्तु इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि अनेक निश्छल, निःस्वार्थ आदर्शवादियों ने इसके लिये बलिदान किये हैं, यहाँ तक कि अपने प्राणों की आहुति भी दे डाली है, भले ही समूचे कार्य-व्यापार का कितना ही भ्रामक चित्र उनके मस्तिष्क में क्यों न हो। ये बलिदान व्यर्थ नहीं गये हैं। लक्ष्य तो हाथ नहीं लगेगा, किन्तु आन्दोलन से मानवता को कुछ लाभ पहुँचे हैं। उदाहरण के लिये, आन्दोलन के दबाव के कारण पूँजीवाद में परिवर्तन आया है। यह एक ऐसी उपलब्धि है जो कम-से-कम आंशिक रूप से ब्रिटेन और अमरीका जैसे अति औद्योगीकृत देशों में कम्यूनिज्म की विफलता के लिये उत्तरदायी है।

प्रश्न : कहा जाता है कि भारत में ध्रुवीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी है। इस निर्णायक संघर्ष में कौन किसे समाप्त करेगा, वामपंथी दक्षिणपंथी को या दक्षिणपंथी वामपंथी को ?

उत्तर : मेरे पल्ले यह भाषा नहीं पड़ती । पहले तो जहाँ तक भारत की स्थिति का सम्बन्ध है, उसमें 'दक्षिणपंथवाद' और 'वामपंथवाद' पद ही असंगत और अवास्तविक हैं । दूसरे, हिन्दू प्रकृति समन्वय के अपने सामर्थ्य के लिये विख्यात है । हिन्दुओं ने न तो किसी के पुस्तकालय जलाये और न ही अन्य धर्मों को कुरेद कर उनकी जाँच-पड़ताल की । यह तो शंकर और व्यास का देश है । यह प्रकृति फिर उजागर होकर रहेगी । मेरे विचार में श्री वाणी देशपाण्डे की पुस्तक '**यूनिवर्स आफ वेदान्त**' (वेदान्त जगत्) इस बात का संकेत है कि प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी है ।

प्रश्न : 'मार्क्सवाद' के मूल्यांकन के बारे में मेरे पिछले प्रश्न का अभी उत्तर नहीं दिया गया है ।

उत्तर : यह तो कम्युनिस्टों ने हमें बताना है कि मार्क्सवादी चिन्तन चिन्तन की केवल वैज्ञानिक पद्धति है या वह एक 'वाद' है । 'वाद' तो चारों ओर से बंद कमरे की भाँति होता है । जैसे ही वह बन्द रहने के बन्धन को तोड़ देता है, वह 'वाद' नहीं रह जाता । चिन्तन गतिमान होता है । जब उसे जीवन्त रूप दिया जाता है तो वह विचार बन जाता है और जब जड़ रूप दिया जाता है तो 'वाद' बन जाता है । यदि यह केवल चिन्तन की वैज्ञानिक पद्धति है तो यह विफल नहीं हो सकती, किन्तु उस अवस्था में मार्क्स के अनुयायियों को उसमें समय-समय पर परिवर्तन आने देना होगा और समय के प्रवाह में विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों की नवीनतम उपलब्धियों को दृष्टि में रखते हुए उसकी कायापलट भी करनी होगी । न्यूटन के अनेक 'स्थापित' तथ्यों को आइन्स्टीन के विज्ञान ने उलटकर रख दिया और निरन्तर प्रगतिशील विज्ञान के क्षेत्र में आइन्स्टीन के कथन को भी ब्रह्म-वाक्य नहीं माना जा सकता । यदि मार्क्सवाद 'वाद' है तो यह विफल हो चुका है, क्योंकि कोई भी कम्युनिस्ट देश 'मार्क्सवाद' के मूल सिद्धान्तों को भी यथा-वत् कार्यरूप नहीं दे सका । जहाँ तक मेरी जानकारी है, भारत के कम्युनिस्टों ने मार्क्स के चिन्तन को 'वाद' मान लिया है । उस दृष्टि से उनका 'मार्क्सवाद' शत-प्रतिशत विफल है ।

कतिपय क्षेत्रों में रूस ने भव्य सफलताएँ प्राप्त की हैं । प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या ? पर वे सफलताएँ 'मार्क्सवाद' की नहीं, वरन् सोवियत 'साम्राज्यवाद' की हैं । एक का श्रेय दूसरे के पल्ले नहीं बाँधना चाहिए । ऐसा नहीं होना चाहिए कि घी पकावे खीचड़ी, नाम बहू का होय । इस प्रकार 'मार्क्सवाद' का हमारा मूल्यांकन बहुत कुछ इस विषय में स्वयं कम्युनिस्टों के दृष्टिकोण पर निर्भर है । वे श्री एम० एन० राय के इस कथन को स्वीकार नहीं करते : "यह आग्रह करना कि एक शती पूर्व की परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष आज भी उतने ही सार्थक हैं और सदा-सर्वदा के लिये सार्थक रहेंगे, मार्क्सवाद के पथ से

भटक जाना है।" भारतीय कम्युनिस्टों की दृष्टि में यह एक 'वाद' है (मार्क्सवाद के प्रति उनका दृष्टिकोण साध्यपरक है), अतः हमें बाध्य होकर कहना पड़ता है कि वह अवनति के पथ पर अग्रसर हो चुका है, भले ही अन्तिम निर्णायक पराभव कुछ दशाब्दियों के बाद देखने को मिले। परन्तु मार्क्स का दृष्टिकोण भिन्न था। १८७० के दशक के अन्तिम वर्षों के फ्रांसीसी 'मार्क्सवादियों' पर टिप्पणी करते हुए मार्क्स कहा करते थे :

"मैं तो केवल इतना जानता हूँ कि मैं मार्क्सवादी नहीं हूँ।" यदि इस दृष्टि से देखा जाये तो मूल्यांकन कुछ और ही होगा। पर इस विषय में हमारे कम्युनिस्ट बन्धु अपने विचार बतायें कि मार्क्स ने उन्हें जो दिया, वह चिंतन की मात्र एक वैज्ञानिक पद्धति थी या अपने में भरपूर एक 'वाद' था ? किन्तु मेरा विचार है कि मानवता के महान् हित में यही वांछनीय है कि वैज्ञानिक चिन्तन पर मार्क्स का जो आग्रह था उसे समझा जाये, सही चिन्तन के कालसिद्ध हिन्दू विज्ञान की सहायता से उस (वैज्ञानिक) चिन्तन-पथ का अनुसरण किया जाये। दुर्भाग्यवश मार्क्स को हिन्दू विज्ञान का पूरा ज्ञान नहीं था। मेरा विचार है कि तथाकथित 'मार्क्सवाद' को ठुकरा दिया जाये, जिसकी मार्क्स ने कभी कल्पना ही नहीं की थी। भावी पीढ़ियों को उनकी सबसे बड़ी देन यही है कि उन्होंने चिन्तन की वैज्ञानिक पद्धति पर बल दिया। उनके प्रति उनके अनुयायियों का सबसे बड़ा अन्याय यही है कि उन्होंने एक ऐसे 'मार्क्सवाद' का आविष्कार कर डाला, जो मार्क्स के गतिमान चिंतन को निरी जड़ता प्रदान करता है।

६ नवम्बर, १९८३

('आर्गनाइजर' साप्ताहिक द्वारा
लिया गया साक्षात्कार)

इस्लाम और कम्यूनिज्म की पटरी नहीं बैठती

"निस्सन्देह संसार दो विरोधी शिविरों में बँट जायेगा, परन्तु ये शिविर होंगे 'आस्तिकों' और 'नास्तिकों' के—'सम्पन्नों' और 'विपन्नों' के नहीं, जैसाकि कम्युनिस्ट हमारे गले उतारना चाहेंगे।" ये शब्द केरल के एक मुस्लिम लीगी संसद सदस्य ने हाल ही में संसद के केन्द्रीय कक्ष में हुई एक अनौपचारिक चर्चा में भाग लेते समय कहे थे।

उन्होंने आगे कहा कि अन्ततोगत्वा सभी मतावलम्बियों को 'इस मूल सत्य' को स्वीकार करना होगा।

उनके अपने राज्य (केरल) में हाल ही में जो राजनीतिक गठबन्धन हुए हैं, विशेष रूप से उन्हें ध्यान में रखते हुए मुझे इस आकस्मिक कथन ने गम्भीर चिन्तन के लिये विवश कर दिया।

इस्लाम और कम्यूनिज्म के बीच कैसा नाता ? राजनीति में 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' तो होता ही रहता है, पर ये दो पंथ अनिवार्य रूप से एक दूसरे से समानान्तर (असन्धेय) चलते हैं।

इस्लाम और राज्य

इस्लाम के अनुसार पूर्ण प्रभुसत्ता केवल अल्लाह (ईश्वर) के हाथ में है। कोई भी मानव उस चरम स्थिति का दावा नहीं कर सकता। 'अल्लाह के अतिरिक्त अन्य कोई इलाह (पूज्य) नहीं है।' सबकी बागडोर अल्लाह के हाथ में है, स्वर्ग की, धरती की और उसमें जो कुछ है, उसकी।' (कुरान : ५-१२०) में कहा गया है, 'जो अल्लाह, प्रभुसत्ता के स्वामी ! तेरी इच्छा ! जिसे तू चाहेगा सत्ता देगा, और जिससे तू चाहेगा सत्ता वापस ले लेगा।' (३-२६)

उसकी विराट् सत्ता को अब सर्वाधिकारवादी कम्युनिस्ट राज्य चुनौती दे रहा है, जिसने सर्व-शक्तिमत्ता और विराट् सत्ता के दैवी गुण स्वयं ओढ़ लिये हैं। राज्य के सर्वाधिकारवाद की एक तानाशाह ने समुचित व्याख्या इस प्रकार की है, "सब कुछ राज्य के लिये, राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं, सब कुछ राज्य के हाथ में।" तानाशाहों की यह धारणा प्रभु की प्रभुसत्ता पर डाका डालती है।

इस प्रकार कम्युनिस्ट दल की तानाशाही तो सबसे बड़े शाह अल्लाह को ही

गद्दी से उतारने पर उतारू है जो कभी यह सहन नहीं कर सकता कि उसकी विराट् सत्ता में कोई संगठन या कोई व्यक्ति, भले ही वह कम्युनिस्ट दल का महासचिव क्यों न हो, भागीदार बने। कम्युनिस्ट राज्य में दल के राजनीतिक ब्यूरो के सदस्य जनता के इलाह (पूज्य) और रब (स्वामी) हैं। मानव का मानव पर अधीश्वरत्व (इलाहियत) और प्रभुत्व (रबूबियत) दल की तानाशाही की ऐसी अनोखी भंगिमाएँ हैं जिनकी पटरी इस्लाम की भावना से बैठती ही नहीं। जहाँ कुरान पाक में स्पष्ट कहा गया है, "हममें से कोई भी अल्लाह के साथ भागीदारी नहीं कर सकेगा और अल्लाह के अतिरिक्त किसी दूसरे को स्वामी नहीं समझेगा", वहाँ संसार भर के कम्युनिस्ट रूस अथवा चीन के लाल तानाशाहों की प्रभुता स्वीकार करते हैं और वे कदापि यह सहन नहीं करेंगे कि उनकी सर्वाधिकारवादी सत्ता में अल्लाह भी भागीदार बने।

इस्लाम को 'सर्वाधिकारवादी' कहा जा सकता है, क्योंकि वह अपने क्षेत्राधिकार में व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के विभिन्न सभी अंगों का समावेश करता है। किन्तु ऐसा सर्वाधिकारवाद दैवी विधान पर टिका है जो राज्य के लिये बाध्यकारी है। राज्य का प्रभुत्व इतना विराट् नहीं है कि उसका विस्तार समूची मानव जाति पर हो सके। वे प्रश्न करते हैं, "क्या हमें भी कुछ अधिकार प्राप्त हैं ?" उत्तर है : "सभी अधिकार अल्लाह को, केवल अल्लाह को प्राप्त हैं"। (३)

वास्तव में, पश्चिम का संसदीय लोकतन्त्र भी इस्लाम को अधिक रास नहीं आता। इस्लाम की 'शरियत' के अनुसार पश्चिम के लोकतन्त्र से नैतिक अराजकता पैदा हो सकती है, क्योंकि मानव प्रायः अपनी विवेकशून्य प्रेरणा और निरंकुश भावनाओं का दास है। ऐसे व्यक्तियों के हाथ में सत्ता की अन्तिम बागडोर सौंप देना संकटरहित नहीं हो सकता जो इतने विद्वान, सन्तुलित, दूरदर्शी और उच्चमना नहीं हैं कि सदा ही दैवी इच्छा के अनुरूप चल सकें। अतः यह कहा गया है कि यदि सारे संसार के मुस्लिम मिलकर भी कोई ऐसा विधान पारित कर दें जो पाक कुरान के आदेशों के अनुरूप न हो, तो इस्लाम की दृष्टि में उस 'कानून' का फूटी कौड़ी जितना भी मोल नहीं होगा।

इस दृष्टि से इस्लामी राज्य पंथ-शासित होता है। मुस्लिमों के मतैक्य से केवल उसी समस्या को हल किया जा सकता है, जिसके बारे में अल्लाह या उसके पैगम्बर का कोई स्पष्ट आदेश विद्यमान न हो। राष्ट्रीय संसद का कोई संकल्प भी निरर्थक समझा जायेगा यदि वह किसी प्रकार शरियत के आदेश के प्रतिकूल हो। मुस्लिमों को अल्लाह की प्रभुसत्ता के अधीन सीमित लोकसत्ता प्राप्त है। चूँकि पूर्ण प्रभुसत्ता केवल अल्लाह के हाथ में है, अतः जो अल्लाह के विधान के अनुसार शासन करता है, वह उसका उपशासक होगा जिसे यह अधिकार होगा कि वह उन शक्तियों का प्रयोग कर सके जो उसे परम सत्ता द्वारा दी गयी हों।

शासन करने का अधिकार समूचे मुस्लिम समुदाय को सौंपा गया है, किसी व्यक्ति या दल को नहीं। इस्लामी समाज में दल-पद्धति के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। 'खलीफा' लोकप्रिय उपशासक है। सभी श्रद्धालु उसके विश्वासपात्र हैं। "आपमें से प्रत्येक शासक है और प्रत्येक अपनी प्रजा के लिये उत्तरदायी है। और, कोई एक खलीफ़ा दूसरे से किसी भी प्रकार घटकर नहीं है।" दैवी विधान के ढाँचे में हरेक को व्यक्तिगत विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त है, उसे पूरी स्वतन्त्रता है कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार किसी भी दिशा में अपने गुणों का विकास कर सके।

यहाँ तक कि राज्य को भी यह अधिकार नहीं है कि वह अपनी सर्वाधिकार-वादी योजनाओं को साधने के लिये इस व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में काट-छाँट कर सके। राज्य को जकड़बन्दी करने की अनुमति नहीं है। निरंकुशतन्त्र (तानाशाही) के लिये कोई स्थान नहीं है, क्योंकि हरेक खलीफ़ा है, भले ही प्रशासन के लिये सभी खलीफ़ा अपनी खलीफ़ाई अपने में से किसी एक में केन्द्रित कर दें, जो अल्लाह के प्रति और साथ ही उन अन्य खलीफ़ाओं के प्रति उत्तरदायी हो जाता है जिन्होंने अपनी सत्ता उसे प्रदान कर दी है। तानाशाही ऐसे लोकप्रिय उपशासन को नकारती है। इस्लाम 'अमीर' को तानाशाह के अधिकार नहीं देता। उपशासन श्रद्धालुओं के समूचे समुदाय में निहित होता है। न तो 'पोलिट ब्यूरो' की सदस्यता और न ही प्रशासनिक ढाँचे में उच्च पदस्थता इस बात का प्रमाण है कि वह अपने बन्धुओं से किसी प्रकार उच्च है। "आस्था और पवित्रता के अतिरिक्त किसी भी बात में कोई किसी से उच्च नहीं है।"

दल की निरंकुशता हर मुस्लिम की खलीफ़ाई के सपने को एक प्रकार से चूर-चूर कर देती है। तानाशाही की यह धारणा लोकप्रिय उपशासन की इस्लामी धारणा के ठीक उल्टी है। पैगम्बर तो मानव के ऊँच-नीच के भेद को मिटाना चाहता था। राज्य की आज्ञा का पालन होना चाहिए, किन्तु तभी जब वह एक ऐसे अभिकरण के रूप में काम करे जो इस्लामी राज्य के मूलाधार अल्लाह के विधान को लागू करने के लिये बनाया गया हो। प्रशासन केवल वे ही लोग चला सकते हैं जो कुरान पाक और पैगम्बर के सुन्नाह (व्याख्या) में वर्णित अल्लाह के आदेशों में अटूट आस्था रखते हों। नास्तिकों को राज्य के प्रशासन अथवा उसकी नीतियों के निर्धारण में भाग लेने का कोई अधिकार नहीं है।

कम्युनिस्ट दल और राज्य के भीतर सत्ता के लिये अन्तहीन संघर्ष किसी से छिपा नहीं है। इतिहास साक्षी है कि मानवता के वैरी क्रूर लोग सत्ता के मद में अन्धे होकर कम्युनिस्ट उत्तराधिकार के उत्तुंग शिखर पर रक्त के नदी-नालों को लाँघ-फलाँग कर पहुँचे हैं। किन्तु नेता (अमीर) के चयन के लिये इस्लाम ने कसौटी इस प्रकार निश्चित की है, "आपमें से सबसे अधिक श्रद्धा-योग्य वह है जो

धर्मपरायण है।" जो सबसे धर्मनिष्ठ है, वह सम्भवतः उस कम्युनिस्ट सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करेगा कि साध्य के लिये हर साधन उचित है। किसी भी ऐसे व्यक्ति को नेता नहीं चुना जाना चाहिए जो स्वयं उस पद का भूखा हो। पैगम्बर का आदेश है कि किसी भी प्रत्याशी को उसका मनचाहा पद नहीं दिया जाना चाहिए। संसार के कितने कम्युनिस्ट शासक निष्काम भाव की इस कसौटी पर खरे उतर सकते हैं ?

कम्युनिस्ट प्रशासन में न्यायपालिका राज्य के संकेतों पर चलती है। इस्लाम के अधीन, वह कार्यपालिका के कहने पर नहीं चलती। न्यायपालिका राज्य का नहीं, सर्वशक्तिमान अल्लाह का प्रतिनिधित्व करती है।

समाज-व्यवस्था

जहाँ कम्यूनिज़्म अपने विशुद्ध रूप में यह अपेक्षा करता है कि परिवार की संरचना को तोड़कर समाज की प्राथमिक इकाइयों के रूप में 'कम्यूनों' की स्थापना की जाये, वहाँ पैगम्बर ने परिवार को मान्यता दी और उसे स्थिरता प्रदान करने के लिये भरसक प्रयास किया। इसके लिये उन्होंने कहा कि पुरुष स्त्री का संरक्षण करे। उन्होंने पति, पत्नी और बालकों के अधिकारों तथा दायित्वों की व्याख्या की। उन्होंने तलाक, अलग रहने और सशर्त बहु-विवाह के बारे में नियम बनाये और कुमारी-गमन तथा जार-कर्म के मिथ्या दोषारोपण के लिये दण्ड का विधान किया।

इस्लाम मुस्लिम समुदाय के भीतर वर्गों की संकल्पना नहीं करता। सभी मुस्लिम आपस में भाई-भाई हैं, उनका एक भाईचारा है। जहाँ समुदाय के रूप में गैर-मुस्लिमों से उनकी अलग पहचान है, वहाँ उनके अपने बीच कोई वर्ग-विभेद या वर्ग-संघर्ष नहीं हो सकता।

इस्लामी अर्थ-व्यवस्था

इस्लाम चिंतन का खंडशः विभाजन पसन्द नहीं करता। उसके अनुसार आर्थिक समस्या मानव जीवन की बृहत् समस्या का ही एक अंग है। उसे समग्र से अलग करके ऐसा नहीं समझना चाहिए मानो वह जीवन की कोई अलग-थलग समस्या हो। अर्थशास्त्र और जीवन की समग्रता के बीच कोई विभाजन-रेखा नहीं होनी चाहिए। मानव नैतिक तथा आध्यात्मिक आकांक्षाओं से रहित कोई आर्थिक पशु नहीं है।

कतिपय सिद्धान्तों, बन्धनों और प्रतिबन्धों वाली दैवी सीमाएँ आर्थिक क्षेत्र पर भी लागू होती हैं। निजी सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता दी गयी है, किन्तु उस पर कुछ प्रतिबन्ध हैं। पर वे प्रतिबन्ध अल्लाह के हैं, राज्य के नहीं। हरेक को

अधिकार है कि वह अपनी क्षमता और स्वभाव के अनुसार जीविका के साधन खोज सके।

विभिन्न व्यक्तियों की योग्यताएँ एक सी नहीं होतीं, इस कारण एक सीमा तक आर्थिक विषमता स्वीकार की गयी है। परन्तु यह उस सीमा तक ही है जो प्रकृति के अनुरूप हो। किसी को भी इस बात की अनुमति नहीं दी जाती कि वह धन बटोरने के लिये ऐसे साधन अपनाये जिससे उसका अपना नैतिक ह्रास हो और समाज को नैतिक अथवा भौतिक क्षति पहुँचे। अतः सम्पदा अर्जन के वैध (हलाल) और अवैध (हराम) साधनों में स्पष्ट भेद किया गया और अवैध साधनों का निषेध किया गया है।

ऐसा ही निषेध व्यय की उन रीतियों का है जिन्हें अवैध घोषित किया गया है, क्योंकि उनसे नैतिक और सामाजिक क्षति हो सकती है। जमाखोरी और सूदखोरी का भी निषेध है। यह वैध है कि कोई निज के व्यापार में धन लगाये, अथवा दूसरों को पूँजी दे अथवा संयुक्त उपक्रम के लाभालाभ में भागीदार बने।

इस्लामी विधान में इन बातों का विवरण तो है ही कि आयात-निर्यात पर सभी प्रकार का सीमा-शुल्क प्रतिबन्ध हटाया जाये, वस्तुओं के यातायात पर चुंगी और उपकर समाप्त किये जायें, प्रशासन और सेना पर व्यय में अधिक-से-अधिक कटौती की जाये, विधिक कार्यवाही पर राजमुद्रा (स्टाम्प)-शुल्क को पूर्णतः समाप्त कर दिया जाये, इसमें भूमि के प्रबन्ध, व्यापार के विवादों के निपटारे और व्यापार-उद्योग के लिये पूँजी-निर्माण के उपायों के बारे में भी उपबन्ध हैं; पर इनके अतिरिक्त इस्लामी विधि की दो अन्य विशेषताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक तो उत्तराधिकार का विधान है, जो यह सुनिश्चित करता है कि बहुत कुछ धन का बँटवारा विशेष प्रकार के सम्बन्धियों में ही हो। दूसरी ज़कात पद्धति है, जिसके अधीन ऐसी इस्लामी संस्थाएँ बनती हैं जो एक प्रकार से रोग, अपंगता, बुढ़ापे, निर्धनता और बेकारी का सामाजिक बीमा करती हैं।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस्लाम की अर्थव्यवस्था 'दैवी विधान' द्वारा आरोपित प्रतिबंधों पर आधारित है। राज्य को अपनी अर्थव्यवस्था निर्धारित करने का अधिकार नहीं है। समाज के भीतर आर्थिक सम्बन्धों को विनियमित करने के लिये व्यक्तिपरक हृदय-परिवर्तन पर बल दिया जाता है, न कि वस्तुपरक विनियमों अथवा राज्य के हस्तक्षेप पर। चाहे वक्फ़ का प्रश्न हो या जकात के वैधानिक दायित्व का, या सदाकत के स्वेच्छा-दान का, बल आत्म-निग्रह पर दिया जाता है, राज्य के कठोर नियंत्रण पर नहीं।

पैगम्बर ने अपने अनुयायियों से कहा था कि वे कृपणता (कंजूसी) और अभद्रता (बदमिजाज़ी) के दो व्यसनों से दूर रहें। पैगम्बर ने कहा था, "वह मोमिन नहीं है जो अपना पेट तो ऊपर तक भर लेता है, जबकि उसका पड़ोसी

उसकी बगल में भूखा पड़ा रह जाता है।" एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा था, "जो निर्धन विधवाओं और गरीबों की भलाई करता है उसे भी उतना ही पुण्य मिलता है जितना उसे, जो अल्लाह के लिये भटकता है अथवा जो सारे दिन फाका करता है और सारी रात इबादत करता है।" और, "जो कोई अनाथ की आव-भगत करता है, भोजन-पानी देकर उसका सत्कार करता है, तो विश्वास मानो, अल्लाह उसे बहिश्त देगा...।" "वह कौन है जो मजहब को झुठलाता है ? वही जो अनाथ को दुत्कारता है और दूसरों से गरीब को भोजन देने का आग्रह नहीं करता।"

आर्थिक विषयों में पैगम्बर का कहना है कि हृदय को टटोलो, अन्तरात्मा को टटोलो। सर्वशक्तिमान राज्य की धौंस पर उसका विश्वास नहीं। उनके सम-सामयिक अरब देश में जो विचित्र परिस्थितियाँ थीं, उनके अधीन उनके यह बताने की स्थिति तो नहीं आयी कि नियोजक-नियोजित (नौकरी देने वाले और नौकर) का आदर्श सम्बन्ध क्या होता है, किन्तु उन्होंने मोटे-मोटे मार्गदर्शी सिद्धान्त बताये हैं। "तुम्हारे नौकर तुम्हारे भाई, तुम्हारे परिचारक हैं; अल्लाह ने उनका भार तुम्हें सौंपा है; तो जिस पर अपने भाई का भार है, उसे चाहिए कि वह जो कुछ स्वयं खाता है, उसमें से उसे खिलाये और स्वयं जो कपड़े पहने उसमें से उसे भी पहनने को दे; और उसे ऐसा काम करने पर विवश न करे जो उसके सामर्थ्य का न हो और यदि ऐसा काम करने के लिये उसे बाध्य ही करे तो उस काम को पूरा करने में उसका हाथ बँटाये।" और "जब तुम्हारा कोई नौकर तुममें से किसी के लिये भोजन लेकर आये तो यदि उसे अपने साथ भोजन करने न बिठाये तो कम-से-कम उसमें से एक-दो कौर भोजन तो उसे दे ही, क्योंकि वास्तव में उसने भोजन के लिये अपना पसीना बहाया है।"

स्पष्ट है कि आर्थिक विषयों के बारे में इस्लाम का दृष्टिकोण कम्यूनिज्म से नितान्त भिन्न है।

दृष्टिकोण का यह अन्तर संयोग मात्र नहीं है। दोनों में एक और गहरा मौलिक अन्तर है। उसी से यह अन्तर उपजा है।

दृष्टि भिन्न, लक्ष्य भिन्न

कौन नहीं जानता कि कम्यूनिज्म ने नख से शिख तक भौतिकवाद का आवरण ओढ़ रक्खा है। इस्लाम न केवल ईश्वर के अस्तित्व में, वरन् उसकी विराट् सत्ता में भी विश्वास करता है। उसके अनुसार अल्लाह न केवल जगत् का सिरजनहार है, बल्कि पालनहार, धारक, विधिनिर्माता, मार्गदर्शक और संहारक भी है। "वह आदि भी है, अन्त भी और बाहर भी है और भीतर भी" (५७-३)। कम्यूनिज्म 'पदार्थ' को 'सर्वशक्तिमान' के सिंहासन पर बिठाना चाहता

है। किन्तु एक अरबी लेखक के अनुसार "अल्लाह ने पैगम्बर से कहा, ये रहीं धरती के सारे ख़ज़ाने की कुंजियाँ, तुम चाहो तो सब ले लो, पर पैगम्बर ने लेने से इंकार कर दिया।" अपनी मृत्यु से चार दिन पूर्व अपने जीवन का अन्तिम उपदेश देते हुए पैगम्बर ने कहा, "अल्लाह ने अपने सेवक को छूट दी थी कि वह दोनों में से कुछ भी चुन ले, चाहे तो संसार ही उत्तम वस्तुएँ (तोहफे) ले ले या फिर अल्लाह की नेमतें, लेकिन सेवक ने दूसरी को चुना।" निस्सन्देह पैगम्बर भौतिकवादी नहीं थे।

कम्युनिस्टों के अनुसार मानव-जीवन तथा कर्म का लक्ष्य चरम भौतिक समृद्धि है। इस्लाम के अनुसार चरम लक्ष्य दैवी विधान को कार्यरूप देना है।

उपर्युक्त बातें तो केवल उदाहरण मात्र हैं। तथ्य तो यह है कि इस्लाम और कम्यूनिज्म में उतना ही भेद और विरोध है जितना किसी अन्य अध्यात्मपरक धर्म और कम्यूनिज्म में। मूल रूप से दोनों में रंचमात्र भी साम्य नहीं है। लम्बे समय से अन्तरराष्ट्रीय मंच पर आस्तिकों और नास्तिकों का यह संघर्ष चला आ रहा है। नास्तिक इस प्रक्रिया में अधिक सुसंगठित हैं। जिस 'मूल सत्य' की बात मेरे मित्र ने की है, क्या उसकी उष्मा का अनुभव समूचे संसार के आस्तिक करेंगे?

संगठनात्मक स्वरूप : कम्युनिस्ट तथा भारतीय

[कम्युनिस्ट पार्टी बनाम भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन]

कम्युनिस्ट पार्टी ऐसा पंथ है जो राष्ट्रीय समाज के एक खण्ड का प्रतिनिधित्व करता है।

भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन न तो दल है, न ही पंथ। वह समूचे राष्ट्रीय समाज का प्रतिनिधित्व करता है।

कम्युनिस्ट पार्टी विदेशी राष्ट्र-राज्य की भारतीय भुजा है।

भा० सा० सां० संगठन स्वयं राष्ट्रीय समाज है। वह सुगठित है तथा अधिक अच्छे राष्ट्रीय चरित्र पर आधारित है।

क० पा० राष्ट्रीय समाज के निष्ठाविहीन सदस्यों का पंथ है।

भा० सा० सां० सं० उन सभी दलों और पंथों को गले लगाता है जिनके सदस्य राष्ट्रीय समाज के प्रति निष्ठावान हैं।

क० पा० संस्कृतिवादियों सहित सभी पर सर्वहारा का ठप्पा लगाना चाहती है।

भा० सा० सां० सं० सर्वहारा सहित सभी को सुसंस्कृत बनाना चाहता है।

क० पा० का विश्वास है कि राज्य समाज को ढालता है।

भा० सा० सां० सं० का विश्वास है कि समाज राज्य को ढालता है।

क० पा० का विचार है कि सभी सामाजिक-आर्थिक सत्ताओं को दल और उसके राज्य की आज्ञा का पूर्ण रूप से अनुपालन करना चाहिए।

भा० सा० सां० सं० का विचार है कि सभी सामाजिक-आर्थिक सत्ताओं को पूर्ण स्वायत्तता मिलनी चाहिए। किसी दल या राज्य का हस्तक्षेप उनमें नहीं होना चाहिए।

क० पा० सर्वाधिकारवादी राज्य का समर्थन करती है।

भा० सा० सां० सं० सभी प्रकार की सत्ता के विकेन्द्रीकरण का समर्थन करता है।

क० पा० कठोर नियन्त्रण का समर्थन करती है।

भा० सा० सां० सं० लचीले अनुशासन का समर्थक है।

क० पा० राज्यानुशासन के नाम पर व्यक्ति का दमन करना चाहती है।

भा० सा० सां० सं० ऐसे आत्मानुशासित व्यक्तियों का विकास करना चाहता है जो सामाजिक अनुशासन के ढाँचे में अपनी विशेष योग्यताओं का प्रस्फुटन करें।

क० पा० पदार्थ को मूल मानती है, उसके अनुसार मन उसकी ऊपरी रचना है।

भा० सा० सां० सं० चैतन्य को सत् का मूल स्वरूप मानता है। पदार्थ तथा मन उसी की अभिव्यक्तियाँ हैं।

क० पा० केवल पदार्थ की सत्ता का पुजारी समुदाय है।

भा० सा० सां० सं० पदार्थ की भी सत्ता मानने वाला संगठन है।

क० पा० आदर्श का संस्थाकरण करना चाहती है।

भा० सा० सां० सं० संस्थानों को आदर्श से मंडित करना चाहता है।

क० पा० राष्ट्रीय समाज को दो विरोधी समानांतर शिविरों में बाँटना चाहती है।

भा० सा० सां० सं० भारतीय समाज के उत्थान की ऊर्ध्वगामी व्यवस्था करना चाहता है।

क० पा० का विचार है कि व्यक्तिगत रुझान की उपेक्षा करके केन्द्रीय योजनानुसार कार्य-व्यवसाय की व्यवस्था की जाये।

भा० सा० सां० सं० का विचार है कि समग्र उत्पादन और समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए व्यक्तिगत रुझान के अनुसार आजीविका की व्यवस्था की जाये।

क० पा० एक ऐसे निर्जीव राज्य-तन्त्र की कल्पना करती है जिसमें व्यक्ति केवल उसका कल-पुर्जा बनकर रह जायेगा।

भा० सा० सां० सं० राष्ट्रिकों का परिवार है। साधारण परिवार से वह केवल सीमा की दृष्टि से भिन्न है, प्रकार की दृष्टि से नहीं।

क० पा० जीवन के प्रति खण्डग्राही दृष्टिकोण रखती है। उसके अनुसार विभिन्न सामाजिक अवयवों के हित परस्पर विरोधी हैं।

भा० सा० सां० सं० जीवन के प्रति समग्रता का दृष्टिकोण रखता है। उसके अनुसार विभिन्न सामाजिक अवयव एक दूसरे के पूरक हैं।

भारतीय विचार-केन्द्र में उद्घाटन-भाषण

इस अवसर पर यहाँ उपस्थित होकर मुझे बड़े गर्व का अनुभव हो रहा है। आज भारतीय विचार-केन्द्र का उद्घाटन हो रहा है, मेरे लिये यह कोई छोटी-मोटी बात नहीं। मेरे विचार में यह एक विशाल कार्य का नन्हा सा शुभारंभ है। कितना भी विशाल कार्य क्यों न हो, उसका आरम्भ तो सदा ही नन्हा सा होगा। कहा जाता है, 'बूँद-बूँद करके सागर बनता है'। आज हमें जो यह नन्हा सा पौधा दीख रहा है, वह निश्चय ही एक दिन विशाल वट वृक्ष बनेगा। अतः मैं सोचता हूँ कि मैं इस अवसर पर आ सका, यह मेरे लिये बड़े सम्मान और गौरव का विषय है। इसके लिये मैं श्री परमेश्वरन जी का परम आभारी हूँ जिनका इस समूचे उपक्रम में मुख्य योगदान है।

'विचार' शब्द बड़े ही महत्त्व का है। यह हमें बोध कराता है कि इस केन्द्र में किस प्रकार का कार्य सम्पन्न होगा। आजकल लोकतन्त्र के ताने-बाने में 'विचार' तो गौण रह जाता है और राजनीतिक जीवन में हाथ लगता है केवल 'प्रचार'। प्रचार तो केवल प्रचार होता है। न तो वह सत्य की खोज करता है और न ही कोई शिक्षा प्रदान करता है। इसलिये लोग 'विचार' की अपेक्षा 'प्रचार' के अधिक अभ्यस्त हो गये हैं। विचार तो केवल सत्यान्वेषी होता है। सत्य प्रचार के पैरों पर खड़ा नहीं होता। जन-समर्थन उसे मिले तो सोने पर सुहागा। किन्तु यदि विशाल बहुमत उसका विरोध भी करे तो भी सत्य अपने बल पर टिकता है। अपनी वैधता के लिये वह बहुमत की बैसाखी पर निर्भर नहीं रहता। सत्यान्वेषी का दृष्टिकोण तो निष्पक्ष, निर्विकार और वैज्ञानिक होता है। उसमें पूर्वाग्रह, दुराग्रह, द्वेषादि के लिये कोई स्थान नहीं होगा। वह सत्य का पुजारी होता है, सत्य के अतिरिक्त उसे कुछ नहीं सूझता। सत्य को पाकर वह गद्गद हो जाता है, उसे वह अपने प्रयासों का सबसे बड़ा पुरस्कार समझता है, वह मान्यता की भी अपेक्षा नहीं करता। एक बार रवीन्द्रनाथ टैगोर पांडिचेरी आश्रम देखने गये। उन्होंने योगी अरविन्द से चर्चा की। अन्त में रवीन्द्रनाथ ने पूछा, "आप विश्व को अपना सन्देश देने बाहर क्यों नहीं आते ?" योगी अरविन्द ने उत्तर दिया, "सत्य को अन्यत्र कहीं जाने की आवश्यकता नहीं।" यह है सत्यान्वेषी का आत्म-विश्वास।

आज, यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारतीय विचार-केन्द्र जैसे कोई केन्द्र हैं ही नहीं। अनेक केन्द्र हैं, किन्तु उनका दृष्टिकोण वस्तुपरक नहीं है। यही सारी कठिनाई है। उनका दृष्टिकोण कल्पना का सहारा लेता है, विशेष रूप से अन्तरराष्ट्रीय सम्प्रदायवाद और अन्तरराष्ट्रीय वर्गवाद के प्रतिनिधि ऐसा करते हैं। ये प्रतिनिधि भी कतिपय केन्द्र चला रहे हैं। किन्तु जिन निष्कर्षों पर उन्हें पहुँचना है, उनकी कल्पना अपने मन में वे पहले ही कर लेते हैं। और जो भी तथ्य उनके सामने आते हैं, उन्हें इस प्रकार ढाला जाता है कि वे उन निष्कर्षों के साँचे में फिट बैठ जायें जिनकी रूपरेखा उन्होंने अपने मन में पहले ही बना ली होती है। यह कोई वैज्ञानिक दृष्टि नहीं है। तथ्यों को ठोक-पीटकर निष्कर्षों के अनुरूप नहीं ढाला जाना चाहिए, बल्कि निष्कर्षों का उद्गम तो तथ्यों की पर्वतमाला से सहज रूप से होना चाहिए। भारतीय विचार-केन्द्र में ये विशेष आकर्षण होंगे। यहाँ कल्पनाजन्य दृष्टि के लिये कोई स्थान नहीं होगा। यहाँ सत्य का संधान, अनुसंधान होगा और जो निष्कर्ष निकलेंगे, वे तथ्यों के आधार पर निकलेंगे। यहाँ पूर्वाग्रह, दुराग्रह, द्वेषादि के लिये कोई स्थान नहीं होगा, अतः पूर्व-निश्चित निष्कर्षों का प्रश्न ही नहीं उठता। हमें तो केवल सत्य का अन्वेषण करना है। ऐसा हमारा विचार है।

मुझे महात्मा गांधी का एक सुन्दर वाक्य स्मरण आ रहा है। हम जानते हैं कि सत्य और अहिंसा को गांधी जी जीवन के दो सर्वोच्च सिद्धान्त मानते थे। एक बार उन्होंने कहा था, "लोग कहते हैं ईश्वर ही सत्य है, पर मैं कहता हूँ सत्य ही ईश्वर है।" ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था। अब इस सत्य की खोज विभिन्न स्तरों पर की जानी है। अनेक समस्याओं की पड़ताल की जानी है। ऐसा कहा जाता है कि आधा उपचार तो उचित निदान से हो जाता है। समस्या का सही निर्धारण भी उसके समाधान में किसी सीमा तक सहायक होता है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि विभिन्न समस्याओं के लिये विभिन्न स्तरों पर सत्य का अन्वेषण किया जाये। समस्याएँ तो सभी स्तरों पर उठती हैं, व्यक्ति के स्तर पर, राष्ट्र के स्तर पर, अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर शान्ति और युद्ध के बारे में, ब्रह्माण्ड के स्तर पर उसके सत्य स्वरूप के बारे में। विभिन्न स्तरों पर विभिन्न समस्याएँ होती हैं। जो भी समस्याएँ हम हल कर सकेंगे, वे अन्य स्तरों पर दूसरी समस्याओं को हल करने में सामान्य रूप से सहायक होंगी। संयुक्त अन्वेषण की इस भावना को ध्यान में रखते हुए हमारा विचार है कि विभिन्न समस्याओं के बारे में सत्य तक पहुँचने के लिये अलग-अलग जो प्रयास किये जा रहे हैं, उनका परस्पर एक स्थान पर समन्वय कर दिया जाये। वह प्रयास सामूहिक होना चाहिए जिससे सामूहिक ज्ञान का लाभ प्राप्त होगा। यह सामूहिक प्रयास अधिक उपयोगी होगा। इसी कारण केन्द्र का यह विचार अंकुरित हुआ।

अब विचार-केन्द्र की बात तो ठीक है, किन्तु स्वाभाविक रूप से कोई पूछ सकता है कि इसके आगे 'भारतीय' शब्द लगाने का क्या औचित्य है ? सत्य तो जात-पांत, राष्ट्रीयता के बन्धन से मुक्त है। ज्ञान तो सदा सर्वदेशीय होता है। उस अवस्था में 'भारतीय' विशेषण का क्या प्रयोजन ? ऐसा प्रश्न किसी के भी मन में उठ सकता है। इसके लिये पहले तो 'भारतीयत्व' के स्वरूप को ठीक से समझ लेना होगा। जहाँ तक संस्कृति, राष्ट्रीय प्रकृति, परम्परा का सम्बन्ध है, भारतीय कुछ पश्चिमी देशों के राष्ट्रवादियों से गुणात्मक दृष्टि से भिन्न हैं। निश्चय ही हमारी राष्ट्रीयता का गुणधर्म और स्वरूप भिन्न है। कतिपय पश्चिमी देशों की ऐसी धारणा है कि राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता में परस्पर कोई मेल नहीं है। अतः जो कट्टर राष्ट्रवादी हैं वे अन्तरराष्ट्रीयता का विरोध करते हैं और कट्टर अन्तरराष्ट्रवादी स्वराष्ट्रों का ही विरोध करते हैं। अतीत में ऐसा हो चुका है। हमारे लिये तत्सम्बन्धी 'दर्शन' ही भिन्न है। हम मानव-चेतना के विकास में विश्वास करते हैं। जब बच्चा पैदा होता है, वह अपने में ही मस्त रहता है। चेतना का विकास होने पर, वह परिवार को, धीरे-धीरे समुदाय को, फिर समूचे समाज को, समूचे राष्ट्र आदि को पहचानने लगता है। किन्तु हमारी संस्कृति इतने पर ही पूर्ण विराम नहीं लगाती। उसकी अपेक्षा है कि इस चेतना का और विकास हो ताकि व्यक्ति का समूची मानव-जाति से तादात्म्य हो सके, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' चरितार्थ हो सकें। हमसे अपेक्षा की जाती है कि हम समूचे चराचर जगत् से और अन्त में समूचे ब्रह्मांड से तादात्म्य स्थापित करें। हम 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' को चरितार्थ करें। अतः स्वयं से लेकर ब्रह्मांड तक की पहिचान की इस लम्बी यात्रा में मानव-चेतना के विकास का एक क्रम होना चाहिए। और, ये सभी चरण जोड़ने वाले हैं, तोड़ने वाले नहीं। अतः हमारे लिये राष्ट्रीयता एवं अन्तरराष्ट्रीयता में कोई विसंगति नहीं है। ये तो मानव-चेतना के विकास के विभिन्न पड़ाव हैं। सच्चा भारतीय जितना राष्ट्रीय है, उतना ही अन्तरराष्ट्रीय। अतः यदि प्रसंग विशेष में हमें इस 'भारतीय' शब्द को ठीक से समझना है तो हमें अपनी राष्ट्रीय संस्कृति की इस विशेष प्रकृति को ध्यान में रखना होगा। वेदों में कहा गया है कि ज्ञान तो सर्वदेशीय है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी का भी विश्व भर में सहज प्रसार हो सकता है, भले ही कुछ बड़े राष्ट्र उन्हें अपने विशिष्ट रहस्यों के रूप में सहेज कर रखते रहें। किन्तु जब हम कहते हैं 'भारतीय' तो इसका अर्थ है कि हम स्पष्ट रूप से विभिन्न स्तरों पर सत्य का अन्वेषण कर रहे हैं। हमारे सामने विभिन्न समस्याएँ हैं। हम उनमें तथ्यान्वेषण करना चाहते हैं।

भारतमाता के लाल होने के नाते हम चाहते हैं कि सत्यान्वेषण के इस प्रयास में हम समुचित दृष्टिकोण अपनायें। कारण स्पष्ट है। १८३४ से लगातार

सुनियोजित ढंग से इस बात का प्रयास चल रहा है कि भारतीय मानस में आत्म-संशय और हीनभावना के बीज बोये जायें। उनपर यह धारणा थोपी गयी कि भारत की हर वस्तु घटिया है, पश्चिम की हर वस्तु बढ़िया है। हमारे कुछ अपने विद्वान भी ब्रिटिश साम्राज्य की चकाचौंध से चौंधिया गये। इस प्रचार से वे इतने अभिभूत हो उठे कि वे भी अंग्रेजों तथा अन्य श्वेत जातियों की उच्चता के सिद्धान्त का राग अलापने लगे। इस सिद्धान्त ने हमारे जन-मानस में आत्मसंशय और हीन भावना के घुन को पनपाने में भारी योग दिया है। मैं यह तो नहीं कहता कि हममें श्रेष्ठता की मनोग्रन्थि होनी चाहिए। वह एक और अति है जिससे हमें बचना है। किन्तु इस हीन भावना के कारण हमारे देश का जनसाधारण सत्य को उसके यथार्थ रूप में नहीं देख पाता। उदाहरण के लिये, आज का सामान्य व्यक्ति वर्तमान स्थिति के बारे में कुंठा और निराशा से ग्रस्त है। वह अनुभव करता है कि हममें योग्यता नहीं है, अतः वह यह निष्कर्ष निकाल लेता है कि वर्तमान स्थिति के लिये हमारी आंतरिक दुर्बलता उत्तरदायी है। उसे यह ज्ञान नहीं है कि वास्तव में हमारे पास वह सब कुछ है जो किसी राष्ट्र को महानता प्रदान करने के लिये आवश्यक है। हमारे पास बड़ी-बड़ी क्षमताएँ हैं; विशाल जन-शक्ति की विपुल पूँजी है ; सभी प्रकार के साधन हैं, प्रतिभाएँ हैं। लोग कहते हैं कि पश्चिम विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हमसे आगे है। किन्तु हम जानते हैं कि विश्व के सबसे बड़े वैज्ञानिक समुदाय में हमारा स्थान तीसरा है, भले ही प्रतिभा-पलायन के कारण अपने वैज्ञानिक समुदाय की प्रतिभा का हम सदुपयोग नहीं कर सके हैं। इसके उपरान्त सबसे बड़े वैज्ञानिक समुदाय में हमारा तीसरा स्थान है। अतः हमारे पास प्रतिभा है, साधन हैं, जन-शक्ति है। इनके होते हुए हम दूसरों से पिछड़ रहे हैं। जर्मनी और जापान, जो दूसरे महायुद्ध में ध्वस्त हो गये थे, पुनः उठकर खड़े हो गये हैं और अब वे पिछली महाशक्तियों से टक्कर लेने लगे हैं। सीमित क्षेत्र और जनसंख्या वाले अभी हाल में जन्मे इसराइल को आज सारा संसार सराह रहा है। पर हमारे जन-मानस में हीन-भावना घर कर गयी है, अतः सामान्य नागरिक सोचने लगा है कि हम महान राष्ट्र बनने योग्य नहीं हैं, इसी कारण हम पिछड़ते जा रहे हैं। उसकी समझ में नहीं आता कि राष्ट्र की महानता के लिये जो कुछ आवश्यक है, वह सब हमारे अन्दर विद्यमान है। १९४७ के बाद सामर्थ्य, प्रतिभा और अनुसंधान की हमारे पास कोई कमी नहीं रही। कमी रही तो बस एक इच्छा-शक्ति की। हमारे नेताओं में राष्ट्र को महान बनाने की इच्छा का अभाव रहा। इसी कारण हमारी प्रतिभा, अनुसंधान और सामर्थ्य का उचित उपयोग नहीं हुआ और हमारा राष्ट्र पिछड़ गया। पश्चिम की भौतिक उन्नति से, विशेषकर औद्योगिक क्रान्ति के बाद हुई उन्नति से, हमारी आँखें चौंधिया गयी हैं। हमने इस तथ्य को नहीं समझा कि औद्योगिक क्रान्ति का जन्म

पूर्व-नियोजन से कहीं अधिक संयोगवश हुआ। हमने इस तथ्य को भी नहीं पकड़ा कि वास्तव में उन दिनों हम एक आक्रान्ता से जीवन-मरण के संघर्ष में जूझ रहे थे। युद्ध के दिनों में कोई भी राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता। यह सब तो सामान्य शान्तिकाल में ही सम्भव होता है। हम जानते हैं कि प्राचीन काल में हमारा सम्पर्क बाह्य जगत् से था। लोगों का दावा है कि हमारे देश की अनेक कलाएँ और विज्ञान फारस और अरब देशों के माध्यम से यूरोप तक पहुँचे और फले-फूले। अतः बाह्य जगत् से, विशेषतः यूरोप से, हमारे सम्पर्क की बात हमारे लिये कोई नयी नहीं है। पर जिन दिनों उनका विकास हुआ, उन दिनों हम जीवन-मरण के संघर्ष में उलझे रह गये। ये दोनों बातें एक ही समय इस प्रकार घटित हुईं कि हमारे पास यह देखने और विचार करने के लिये न समय था और न अतिरिक्त शक्ति ही थी कि बाहर क्या कुछ हो रहा है। यही कारण है कि हम उनकी भौतिक उन्नति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके। हमारे बुद्धिजीवी वर्ग ने इन सब तथ्यों की अवहेलना की है। मैकाले यही चाहता था और हम उसी की बात पर विश्वास करने लगे कि अन्यों की अपेक्षा हम घटिया हैं और राष्ट्र के रूप में दूसरे हमसे बढ़कर रहे हैं। जहाँ हम भारतीय उच्चता की ग्रन्थि से ग्रस्त नहीं होना चाहते, वहाँ हम निश्चय ही हीन भावना के इस मरे साँप को भी गले में लटकाना कदापि सहन नहीं करेंगे। हम अपने समूचे वातावरण को इस दूषित वृत्ति से दूषित नहीं होने देंगे। अतः यह आवश्यक हो गया कि किसी विचार-केन्द्र की स्थापना की जाये जो ऐसे पूर्वाग्रहों से मुक्त हो। न हीनभावना हो, न उच्चता की भावना हो; सहज मन से सत्य की खोज की जाये। अब अपनी संस्कृति, अपनी परम्परा, स्वभाव और प्रकृति के अनुरूप हम चाहते हैं कि सांस्कृतिक समागम हों। विभिन्न संस्कृतियों की एक-दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया हो। अतीत में हमारे स्वदेश में ऐसा होता रहा है और हम चाहेंगे कि भविष्य में सांस्कृतिक क्रिया और प्रतिक्रिया का यह क्रम टूटने न पाये। हमारा धर्म अपने द्रष्टा ऋषियों द्वारा दृष्ट शाश्वत, सर्वदेशीय नियमों को ध्यान में रखते हुए सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन करता रहा है। अपरिवर्तनशील सर्वदेशीय नियमों की छाया में परिवर्तनशील आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था पनपती रही है। अतः परिवर्तन तो होंगे ही, होने भी चाहिए। पर द्रष्टाओं द्वारा दृष्ट सर्वदेशीय नियमों के सन्दर्भ में ऐसा करने में कुछ औचित्य है। हम परिवर्तन का विरोध नहीं करते, किन्तु प्रश्न यह है कि परिवर्तन कैसा हो ? हमें सूक्ष्मता से देखना होगा कि अतीत से हमें परम्परा में क्या मिला है। हो सकता है कि उनमें से कुछ परिपाटियाँ घिसपिट गयी हों, आज हमारे काम की न रही हों। उन्हें तज देना होगा। सम्भव है कि उनमें से कुछ सनातन हों, सर्वोपयोगी हों, अतः उन्हें सहेज कर रखना होगा। इसी प्रकार अन्य संस्कृतियों में से हमें खोजना होगा कि

क्या सर्वोत्तम है, क्या गौण है। दूसरी संस्कृतियों में जो सर्वोत्तम है, उसे ग्रहण करने में हमें तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। किन्तु ध्यान रहे कि उसको हमारी अपनी संस्कृति में आत्मसात् किया जाय, उसका अन्धानुकरण न हो। अनुकरण और आत्मसात् करने में आकाश-पाताल का अन्तर है। आत्मसात् करने की प्रक्रिया में, हम विभिन्न संस्कृतियों के अंशों की निरख-परख करते हैं, उन्हें ग्रहण करते हैं, उन्हें इस प्रकार ढालते हैं कि वे घुल-मिलकर हमारी संस्कृति के रंग में ही रँग जाते हैं। अनुकरण तो प्रत्यारोपण मात्र होता है। अतः हमने सदा यही समझा है कि यह हमारा नैतिक दायित्व है, भारत का नैतिक दायित्व है कि वह अपना सर्वोत्कृष्ट बाह्य जगत् को दे और उसका अधिकार है कि वह बाह्य जगत् से भी सर्वोत्कृष्ट ग्रहण करे तथा उसे अपनी संस्कृति के रंग में रँग ले। इस प्रकार हम चाहते हैं कि सांस्कृतिक समागम हो। हम नहीं चाहते कि अन्ध-तिरस्करण हो, केवल इस बहाने कि वह भारतीय नहीं है। हम यह भी नहीं चाहते कि आँख मूँदकर ग्रहण करें, अन्धानुकरण करें, क्योंकि वह पश्चिम का है। हम चाहते हैं कि हम अपने अतीत का, अपनी परम्परा का तथा विभिन्न संस्कृतियों के विकास की अवस्था का सूक्ष्म अवलोकन करें और दोनों में जो सर्वोत्तम हो, उसको इस प्रकार आत्मसात् करें कि वह हमारी परम्परागत संस्कृति का ही अभिन्न अंग बन जाये। यह तथ्य है कि इस देश में अन्तरराष्ट्रीय सम्प्रदाय-वाद और अन्तरराष्ट्रीय वर्गवाद के प्रतिनिधि (एजेण्ट) विद्यमान हैं जो अपने काल्पनिक दृष्टिकोण से सत्य को तोड़-मरोड़ कर उसे अपनी परिकल्पना के अनुरूप ढाल लेते हैं। यह भी तथ्य है कि इस देश के औसत नागरिक का मानस आत्मसंशय और हीन भावना से पीड़ित है, क्योंकि प्रयोजनपूर्वक नियोजित ब्रिटिश शिक्षा-पद्धति द्वारा उसके मन को कुंठाग्रस्त किया गया है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक हो गया है कि कोई ऐसा विचार-केन्द्र होना चाहिए जो इस भारतीय पद्धति का अनुसरण करे। जैसाकि मैं कह चुका हूँ, आज हमारे सामने विशेष समस्या यह है कि हर स्तर पर हमें अन्वेषण करना है। अन्यथा हर स्तर पर हमें सत्य का ज्ञान नहीं होगा। इसीलिये मैं व्यक्तिगत अव्यवस्था की समस्या का उल्लेख करता हूँ जिसकी चरम परिणति है आत्मघात। ब्रह्मांड की समस्या तक हर स्तर पर हमें संयुक्त अन्वेषण करना है। प्रादेशिक स्तर पर विभिन्न समस्याएँ हैं। अभी-अभी मुझे स्मरण आया कि केरल की अपनी कुछ निराली सामाजिक पद्धतियाँ हैं। यहाँ दीर्घकाल से हमारी मरुमकतायाा अथवा मातृप्रधान पद्धति है। अब इस मरुमकतायाा अथवा मातृ-प्रधान पद्धति का आज की हमारी सामाजिक-आर्थिक दशा पर क्या प्रभाव पड़ा है? किस प्रकार केरल की इस निराली पद्धति ने वर्तमान आर्थिक-सामाजिक दशा में योगदान किया है ? यह एक ऐसी समस्या है जिसके बारे में संयुक्त अन्वेषण

आवश्यक है। इसी प्रकार राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न समस्याएँ हैं। यह भी हम जानते हैं कि कुछ समस्याएँ मूल रूप से अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप की हैं, यथा—पर्यावरण की समस्याएँ और परमाणु अस्त्रों से उत्पन्न समस्याएँ। कुछ समस्याएँ विभिन्न राष्ट्रों की अपनी विशिष्ट समस्याएँ हैं, जैसे—अमरीका में नीग्रो समस्या, भारत में अस्पृश्यता की समस्या। अतः जहाँ कुछ समस्याएँ अन्तरराष्ट्रीय स्तर की हैं, वहीं अन्य कुछ राष्ट्रीय स्तर की हैं, कुछ प्रान्तीय स्तर की हैं। इन सबके बारे में हमें अन्वेषण करना है। किन्तु जहाँ तक हमारे भारत की वर्तमान अवस्था का सम्बन्ध है, उनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि राष्ट्र के रूप में प्रगति के लिये हमें कौन सा आदर्श अपनाना चाहिए। आज यह 'फैशन' बन गया है कि प्रगति के सर्वमान्य आदर्श के रूप में पश्चिमी प्रतिरूप को अपनाया जाये। उस पर पश्चिमीकरण का रंग ऐसा चढ़ा है कि औसत नागरिक यह विश्वास करने लगा है कि पश्चिमीकरण ही आधुनिकीकरण है। उदाहरणार्थ—अपने आर्थिक क्षेत्र में हमने आँख मूँदकर पश्चिमी प्रतिरूप का अनुसरण किया है, यथा—उद्योग का आकार क्या होना चाहिए, प्रौद्योगिकी कैसी होनी चाहिए, उद्योग कहाँ लगना चाहिए, उद्योग के स्वामित्व का स्वरूप, कैसा होना चाहिए, हर बात में हमने पश्चिम का अन्धानुकरण किया है। हमने कभी यह नहीं सोचा कि हमारी परम्परा क्या है, हमारा स्वभाव क्या है, हमारी अपनी विशिष्ट परिस्थिति क्या है। इन सब बातों पर विचार किये बिना ही हमने पश्चिमी प्रतिमान को विकास का अपना आदर्श मान लिया। हमें सोचना होगा कि क्या यह ठीक है, अथवा हमें सभी प्रतिमानों का अध्ययन करना होगा और सभी संस्कृतियों में से जो सर्वोत्तम होगा, उसे स्वीकार करके आत्मसात् कर लेना होगा। हर संस्कृति का प्रगति का अपना निजी आदर्श होना चाहिए। यद्यपि चीन रूस और कार्ल मार्क्स का अनेक प्रकार से आभारी था, तब भी माओत्सेतुंग ने चीन में कहा कि पश्चिमीकरण आधुनिकीकरण नहीं है। उन्होंने ऐसा कहा, क्योंकि उनमें कहने का जीवट था, साहस था। हमें भी यह कहने का साहस करना चाहिए कि पश्चिमीकरण आधुनिकीकरण नहीं है और जहाँ हम आधुनिकीकरण का समर्थन करते हैं वहाँ पश्चिम के अन्धानुकरण का समर्थन नहीं करते। अतः जहाँ तक हमारी राष्ट्रीय प्रगति का सम्बन्ध है, हमारी मूल समस्या यह है कि हमारी प्रगति और विकास के लिये कौन सा प्रतिमान आदर्श होना चाहिए। इन सब बातों पर विशद रूप से, निष्पक्ष रूप से, वस्तुपरक दृष्टि से विचार करने के लिये यह आवश्यक है कि हमारे अपने बुद्धिजीवी मिलें, मिलकर विचार करें, अपनी विशिष्ट योग्यता का मिलकर संचयन करें, हर स्तर पर सत्य के बारे में मिलकर अन्वेषण करें और सत्य के प्रकाश में, तथ्यों के प्रकाश में निष्कर्ष निकालें। ये निष्कर्ष कल्पना की

उपज न हों, वरन् प्राप्त तथ्यों के आधार पर तर्क की छलनी के माध्यम से सहज रूप से निकाले जायें। इस प्रक्रिया के आधार पर हमारे बुद्धिजीवियों को संयुक्त अन्वेषण करने चाहिए। मेरे विचार में इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर भारतीय विचार-केन्द्र की स्थापना की गयी है। मुझे विश्वास है कि यदि केरल में बाहरी लोग, उनके 'एजेण्ट' और उनके प्रतिनिधि लोगों को पथभ्रष्ट कर रहे हैं, तो यहाँ ऐसे बुद्धिजीवी भी हैं जो अपने-अपने क्षेत्रों में, अपने-अपने विषयों में आदर के पात्र हैं। वे इस नीति को अपनाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि भारतीय विचार-केन्द्र में संयुक्त अन्वेषण के इस प्रयास में अपना समुचित योगदान करें।

इस अवसर पर मेरा एक विनम्र अनुरोध है। वे सभी बुद्धिजीवी, जो भारतीय विचार-केन्द्र के लक्ष्यों के लिये निर्धारित नीति में विश्वास करते हों, भारतीय विचार-केन्द्र को स्व-प्रयास का मंच ही समझें और संयुक्त प्रयास में यथाशक्ति अपना योगदान करें। जो बुद्धिजीवी यहाँ एकत्र हुए हैं, उनसे मेरा यह सच्चा और विनम्र अनुरोध है। मुझे आशा है कि आप सभी महानुभावों के हार्दिक सहयोग से आज के प्रयास का यह नन्हा सा बिरवा शीघ्र ही एक महान वट वृक्ष बन जायेगा। मन में इस आशा को संजोते हुए और आपकी अनुज्ञा से मैं विधिवत घोषणा करके इस भारतीय विचार-केन्द्र का उद्घाटन करता हूँ।

अन्तिम रूपरेखा नहीं, केवल दिशादर्शन

अनौपचारिक बातचीत के समय यहाँ ऐसा दिखाई दिया कि अनेक लोगों के मनों में यह भाव है कि हम कहते तो हैं कि 'यह पद्धति या तन्त्र अनुपयुक्त है', परन्तु क्या केवल इतना कह देने से हमारा दायित्व पूरा हो जाता है ? या दूसरी पद्धति क्या होनी चाहिए—कैसी अन्तिम रूपरेखा (blue print) हमें प्रस्तुत करनी चाहिए, ये बातें भी विचारणीय हैं ?

जहाँ तक अन्तिम रूपरेखा (blue print) का प्रश्न है, यह सब लोग जानते हैं कि वह इस प्रकार नहीं दी जाती ; जो बुद्धिमान थे उन्होंने कभी दी नहीं। इसका कारण यह है कि रूपरेखा विकसित होती है जब उसके कार्यान्वियन की परिस्थिति उपलब्ध रहती है। उसके लिये आवश्यक यह है कि एक मार्गदर्शक सिद्धान्त हमारे पास हो जिसके आधार पर, प्राप्त परिस्थिति की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए, धीरे-धीरे रूपरेखा विकसित होती है।

जहाँ तक राजनीतिक-शासकीय तन्त्र का प्रश्न है, हम देखें कि आज की परिस्थिति क्या है। उसमें कौन सी त्रुटियाँ हम देखते हैं, इतना बताने से ही काम नहीं चलेगा। किस दिशा में जाना है, इसके बारे में यद्यपि अन्तिम रूपरेखा न हो, तो भी कुछ मार्गदर्शक सिद्धान्त क्या हमारे पास हैं ? या केवल टीका-टिप्पणी करने की नकारात्मक भूमिका ही हमारी है ? यह एक प्रश्न है। अपना यह प्राचीन राष्ट्र है। सनातन राष्ट्र है। इस राष्ट्र का निर्माण कब हुआ, किसी को पता नहीं। राष्ट्रजीवन के विविध अंगों की सुव्यवस्था के लिये हमारे इस अतिप्राचीन राष्ट्र में मूलगामी सिद्धान्तों का अभाव रहा हो—ऐसा कहना सत्य नहीं है। यह असम्भव भी है। इसलिये यह स्वीकार करके चलना होगा कि जीवन के सभी पक्षों पर सुविचारित सामग्री है। परन्तु इस दृष्टि से जब हम विचार करने लगते हैं तो कुछ कठिनाइयाँ आती हैं। प्रथम कठिनाई यही है कि हम भारतीय के नाते विचार करना छोड़ चुके हैं। इसकी योजना १५० वर्ष से क्रमशः चली कि भारतीय लोग भारतीय पद्धति से विचार करने में असमर्थ हो जायें। इसी दृष्टि से हमें शिक्षा-दीक्षा दी गयी। हमारा इतिहास अवास्तविक रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया। हमारे अन्दर पश्चिमी लोगों की तुलना में पिछड़े होने की हीन ग्रन्थि उत्पन्न हो जाय, हम अपने को भूल

जायें—आत्म-विस्मृत हो जायें और पश्चिमात्यों को उन्नत मानें, ऐसा प्रयास १५० से भी अधिक वर्षों से यहाँ चला है और असत्य बातें हमें बतायी गयी हैं। जो शिक्षा-पद्धति लॉर्ड मेकाले लाया, उसका भी यही उद्देश्य था। अंग्रेज जानते थे कि भारत लम्बा-चौड़ा देश है, इस पर यदि शासन चलाना है तो आवश्यक है कि इनको आत्म-विस्मृत करना चाहिए। जिन्हें अपने स्वत्व का स्मरण रहता है, उन्हें कभी दास बनाकर नहीं रखा जा सकता। वास्तव में राष्ट्रीय स्वाभिमान की दृष्टि से ऐतिहासिक जानकारी का महत्त्व मेकाले ने समझ लिया। उसका एक बड़ा अच्छा वाक्य है जो विशेषतः 'प्रगतिवादी' लोगों के स्मरण रखने योग्य है। हमारे लिये वह कहता है—"सुदूर अतीत के पूर्वजों की महान उपलब्धियों में जिनको गर्व का अनुभव नहीं होता—अभिमान का अनुभव नहीं होता—वे कोई भी ऐसा बड़ा काम नहीं कर सकेंगे जिसके बारे में बहुत समय बाद आने वाले वंशज अभिमान रख सकें, गौरव कर सकें।" इस दृष्टि से हमारी शिक्षा-संस्था अंग्रेजों ने बनायी और असत्य बातें हमें सिखायीं। पर्याप्त लम्बे समय तक उनका यह योजनाबद्ध प्रयास चला। भारतीयों के मस्तिष्क में अनेक ऐसी बातें ठूँस दी गयीं कि जिससे वे अपने प्राचीन काल से कट जायें। ऐसा बहुत कुछ हमें सिखाया गया कि जिससे हम अपने आपको भूल जायें। इसलिये आज यदि हमें अपने राष्ट्रीय स्वरूप का सही ज्ञान आत्मसात् करना है तो पहले हमें उससे छुटकारा पाना होगा जो अंग्रेजों ने जानबूझकर सिखाया है।

हमारे अपने देश के बारे में हमारा अज्ञान बढ़ाने वाली परकीयों द्वारा दी गयी जानकारियों को भूलना ही होगा। पहले अपनी पट्टी (स्लेट) साफ करनी होगी, तभी स्वाभिमान के अक्षर स्पष्ट उभर सकेंगे। ऐसा करने की आवश्यकता का एक और कारण भी है। यूरोपीय विचारकों की और राज्य-कर्ताओं की मानव के ऐतिहासिक विकास-क्रम के आकलन की एक विशेष प्रकार की पद्धति रही है। वे यह मानकर चले कि यूरोपीय समाज का विकास जिस ऐतिहासिक प्रक्रिया में से हुआ वह सम्पूर्ण मानव-समाज की कहानी है। इसी पूर्वाग्रह से ग्रसित उनकी दृष्टि रही। इसी आधार पर उन्होंने हमारे इतिहास को भी समझने का यत्न किया। गोरे लोगों ने जो कुछ कहा उसे सच मानने का पराभूत विचार हमारे यहाँ रहने के कारण वह दोषपूर्ण पद्धति हमारे मस्तिष्क में बैठ गयी। पाश्चात्य लोगों की यह धारणा रही कि संसार में कोई भी समाज ऐसा हो नहीं सकता जिसका ऐतिहासिक विकास-क्रम यूरोपीय ऐतिहासिक विकास-क्रम से भिन्न हो। इस प्रकार का दुराग्रह उनका रहा। इसके कारण हुआ यह कि जहाँ-जहाँ विश्व के इतिहास का अध्ययन उन्होंने किया, वहाँ-वहाँ यूरोपीय परिस्थितियों, यूरोपीय संस्थाओं, यूरोपीय अवधारणाओं आदि का हठात् आरोप वहाँ की परिस्थितियों, संस्थाओं, अवधारणाओं पर किया जो वास्तविकता से दूर है। यूरोप का जो क्रम

है उसी में सारे इतिहास को बलात् बिठाने का काम उन्होंने किया। यही हमारे देश के बारे में भी हुआ। इस्लामी देशों के बारे में भी यही हुआ। और इस कारण, जो बातें यहाँ बिल्कुल नहीं थीं, उनका आरोप यहाँ की स्थितियों पर हुआ। कितनी त्रुटियाँ हुईं यह एक अलग विषय है। यहाँ उसे लेने की आवश्यकता नहीं।

हम जानते हैं कि हमारे यहाँ धर्म एक बहुत ही बृहत् कल्पना है जिसे समझते-समझते यूरोपीय व्यक्ति को ४०-५० वर्ष लग जायेंगे। परन्तु अपनी सुविधानुसार उसने धर्म माने रिलीजन, ऐसा भाषान्तर कर लिया। इसी प्रकार संस्थाओं के बारे में जानकारी न होने के कारण अपनी पद्धति में उनको बिठाने के लिये कई आरोप हमारे इतिहास पर किये। यह उदाहरण के लिये कह रहा हूँ। तो इसे विस्मृत करना आवश्यक है। यूरोप में पिछले चार-पाँच सौ वर्षों में जो प्रगति हुई है उसमें विद्रोह की बड़ी भूमिका रही है। यह वैचारिक विद्रोह, और आवश्यकता होने पर शारीरिक विद्रोह तीन संस्थाओं के विरुद्ध हुआ। यह विद्रोह ही उनके इतिहास के पिछले चार सौ वर्षों का प्रमुख सूत्र है। ये तीन संस्थाएँ कौन सी रहीं? एक चर्च, दूसरा आभिजात्य और तीसरा राजतन्त्र। यहाँ की रचना जब उन्होंने देखी तो कहा कि यहाँ भी ये तीनों संस्थाएँ होंगी—जहाँ-जहाँ मनुष्य है वहाँ कभी न कभी ये तीनों संस्थाएँ आनी ही चाहिए। इसके कारण उनके समकक्ष अन्य संस्थाएँ या संस्थाविहीन स्थिति भी यहाँ जब उन्होंने देखी तो अपनी अवधारणाओं का—अपनी संस्थाओं का आरोप यहाँ किया। यथा—यूरोप की 'नोबिलिटी' है—'एरिस्टोक्रेसी' (आभिजात्य) जिसे कहते हैं। भारत में उस प्रकार की एरिस्टोक्रेसी नहीं थी। संगठित चर्च भारत में नहीं था। पुरोहित अवश्य हैं, किन्तु 'चर्च' नहीं था—पुरोहितशाही नहीं थी। और, दोष तो किसी भी पद्धति में उत्पन्न हो ही जाते हैं, यह सत्य है, किन्तु चर्च के कारण निर्मित होने वाले दोष अलग हैं और व्यक्तिगत पुरोहित के कारण निर्मित होने वाले दोष अलग हैं। उसका आरोप इसके ऊपर नहीं किया जा सकता। इसका विश्लेषण होना चाहिए। यहाँ भी सामन्त थे, जमींदार थे। बात ठीक है। किन्तु वहाँ जैसी एरिस्टोक्रेसी थी उसके समकक्ष ऐसी कोई भी संस्था हमारे हिन्दुस्थान में नहीं थी, यूरोप की 'मोनार्की' (निरंकुश राजतन्त्र) जैसी पद्धति तो भारत में कभी नहीं रही। जब कभी अपवादस्वरूप वैसा निरंकुश राजा यहाँ उत्पन्न हुआ तो उसे हटाया गया, समाप्त किया गया। अर्थात् हमारी प्रकृति में ही 'मोनार्की' नहीं थी। किन्तु यह सारा विचार न करते हुए उन्होंने भारतीय परिस्थितियों को यूरोपीय मानदण्ड से मापने का प्रयास किया और हमारे विद्वान इस चक्कर में आ गये। इसके कारण यहाँ जो एक भ्रान्ति है उसको दूर करना होगा अन्यथा जब आप स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने स्थान पर विचार करेंगे तो उसमें कठिनाइयाँ आयेंगी। इस्लामिक इतिहास के एक विद्वान मुहम्मद कुतुब ने

जो विचार प्रकट किया है वह विस्मृतिकरण की प्रक्रिया में उपयोगी रहेगा। वह कहते हैं, "आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में साम्यवाद और दासता, पूंजीवाद और तब अन्तिम कम्यूनिज्म अर्थात् अन्तिम कम्युनिस्ट समाज की परिकल्पना की गयी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का वर्णन जब मानव-जाति के इतिहास की साक्षी घटना के रूप में किया जाता है तो वास्तविकता यह है कि यूरोपीय इतिहास के बाहर इसका कोई अस्तित्व नहीं है। यूरोप से बाहर की किसी जाति के लोग इन अवस्थाओं में से होकर नहीं निकले।" इस्लामी जगत् के महत्त्वपूर्ण माने जाने वाले इतिहासकार का यह कथन सभी अयूरोपीय समाजों पर लागू होता है—हम पर भी। इस बात को ध्यान में रखकर यूरोपीय धारणाओं पर हम विचार करें।

विशेषत: अपना सम्बन्ध लोकतन्त्र से है। यूरोप में लोकतन्त्र (डेमोक्रेसी) का प्रारम्भ ग्रीक राजाओं से हुआ। नगर-राज्य, जैसे—स्पार्टा, एथेन्स आदि, छोटे राज्य थे। 'प्रत्यक्ष लोकतन्त्र' का अर्थ है प्रत्येक नागरिक सरकार के निर्णय लेने की प्रक्रिया में सीधे भाग लेता था। उस समय छोटे नगर-राज्य थे—एक नगर, एक राज्य। शासन द्वारा भी निर्णय लिया जाना हो तो सबको बीच बाजार के स्थान पर बुला लिया जाता था। वहाँ पर समस्या सबके सामने रखी जाती थी और फिर हाथ उठाकर बहुमत से निर्णय लिया जाता था। यह प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र था। अपने यहाँ भी प्रत्यक्ष लोकतन्त्र कुछ रहा है; जैसे—लिच्छवि, वृष्णि, अंधक, गोधेय आदि गणराज्यों में। जो भी हो, ग्रीस में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र था। इसका उदाहरण लेकर सुप्रसिद्ध विचारक प्लेटो ने लोगों के समक्ष विचार रखा कि लोकतन्त्र को एक पद्धति के रूप में कैसे विकसित किया जा सकता है। किन्तु इसके साथ-साथ प्लेटो ने यह भी कहा कि लोकतन्त्र तभी यशस्वी हो सकता है जब लोकतन्त्र में भाग लेने वाले सभी नागरिक शिक्षित हों। अन्यथा उसका दुरुपयोग होगा और इस दृष्टि से जहाँ एक ओर लोकतन्त्र लागू करने का प्रयत्न करना चाहिए वहीं प्रत्येक को शिक्षित करने का भी प्रयास होना चाहिए। यह बात आग्रहपूर्वक सवा दो हजार वर्ष पूर्व प्लेटो ने कही थी। उसके पश्चात् यद्यपि इस बारे में यत्र-तत्र विचार चले, तो भी व्यवस्थित रूप में, आग्रहपूर्वक, तर्कपूर्ण एवं प्रभावी रीति से यदि किसी ने लोकतन्त्र का पुरस्कार किया तो रूसो ने। उन्हें फ्रेंच राज्यक्रान्ति के जनकों में माना जाता है। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के पूर्व आज की जैसी संसदीय पद्धति कहीं भी अस्तित्व में नहीं थी, यूरोप में भी नहीं। इसका प्रारम्भ १८वीं शती से हुआ है। तो भी रूसो ने सुविचारित और प्रभावी रीति से प्रथम बार इस बात को सामने रखा। तत्पश्चात् १८वीं-१९वीं शती में संसदीय लोकतान्त्रिक पद्धति का धीरे-धीरे आरम्भ हुआ। हर स्थान पर एक ही प्रकार से नहीं; ब्रिटेन में अलग ढंग है, फ्रान्स में

आनुपातिक प्रतिनिधित्व है। अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग प्रकार से यह चला। इसके बारे में आकर्षण तो प्रारम्भ से इसलिये रहा कि वहाँ निरंकुश राजतन्त्र था। अर्थात् वहाँ तानाशाही की प्रतिक्रियास्वरूप इस लोकतन्त्र का वरण किया गया। साथ ही साथ विचारकों ने यह भी सोचा कि उनकी जो पद्धति है, वह दोषपूर्ण है। सच्चा लोकतन्त्र उसके द्वारा प्राप्त नहीं होता। इसमें कठिनाइयाँ कौन सी हैं ? प्रत्यक्ष लोकतन्त्र सर्वोत्कृष्ट प्रकार का लोकतन्त्र है। परन्तु यह केवल नगर-राज्य में ही चल सकता है जहाँ कोई भी सरकारी निर्णय लेते समय लोगों को एक स्थान पर एकत्र किया जा सकता है। उनके मत ले सकते हैं। जहाँ बड़े विस्तृत राज्य हों—और आज तो राज्य बड़े विस्तृत हो ही गये हैं—वहाँ प्रत्यक्ष लोकतन्त्र लागू करने के लिये राज्य के सब लोगों को एक स्थान पर कैसे बुलायेंगे ? सबके मत कहाँ लेंगे ? यह तो सम्भव नहीं। इस कारण कुछ न कुछ व्यवस्था आवश्यक थी। जो व्यवस्था उभरकर सामने आयी, उसीको 'शासन का प्रतिनिधिक स्वरूप' (Representative from of Government) कहते हैं। प्रतिनिधि सरकार का अर्थ है कि विस्तृत देश में हम हर नागरिक को निर्णय लेने की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष भाग लेने का अवसर नहीं दे सकते, किन्तु वह अपना प्रतिनिधि चुनकर भेजे। उनके जो प्रतिनिधि हैं वे शासन चलायेंगे। अर्थात् फिर जनता ने ही शासन चलाया, ऐसा माना जायेगा। यह एक कल्पना है। ऐसा अपरिहार्य भी था। किन्तु इस पद्धति में कुछ स्वाभाविक दोष हैं। कुछ मनुष्य-निर्मित दोष भी इसमें घुसा दिये गये हैं। आज चाहे आनुपातिक प्रतिनिधित्व हो, चाहे इंग्लैंड की पद्धति हो, जो संसदीय लोकतान्त्रिक पद्धति चल रही है उसमें कुछ दोष दिखाई देते हैं।

प्रथम दोष यह है कि प्रतिनिधिक शासन में हम प्रतिनिधियों को चुनकर भेजते हैं, परन्तु बीच में अधिकारीतन्त्र आ घुसता है। सत्ता और जनता के बीच में केवल जनता का प्रतिनिधि ही होता तो शायद इतनी कठिनाई नहीं आती। और भी एक बात है। वह है राजनीतिक दल। राजनीतिक दल नाम की जो संस्था है उसके कारण हमारे अधिकारों का चित्र कुछ विकृत हो जाता है। विकृत कैसा होता है, यह हम थोड़ा समझ लें। जिस संविधान के द्वारा हमने संसद में अपना प्रतिनिधि चुनकर भेजा है, उसके अनुसार वह हमारा प्रतिनिधित्व करता है या नहीं ? क्या सही अर्थ में वह हमारा प्रतिनिधित्व करता है ? संसद में जो कार्य-वाही होती है, चाहे कोई विधेयक या प्रस्ताव हो, उस पर मत देना होता है। परन्तु क्या हमारा चुना हुआ प्रतिनिधि अपने निर्वाचन-क्षेत्र के अधिसंख्य मत-दाताओं की इच्छा का अनुमान लगाकर वहाँ मत प्रकट करता है ? यदि वह हमारा प्रतिनिधि है तो हमारी इच्छा का प्रतिनिधित्व करे—निर्वाचन-क्षेत्र के बहुमत की इच्छा का प्रतिनिधित्व करे। क्या ऐसा होता है ? या दल-पद्धति के

कारण ऐसा नहीं हो पाता ? हमें तो एक सन्तोष मिल जाता है कि जिसे चुनकर भेजा वह हमारा प्रतिनिधि है। उसके द्वारा हम शासन चला रहे हैं, ऐसा हम कहते हैं। किन्तु संसद में जब प्रश्न आते हैं और हमारा प्रतिनिधि उन पर मत व्यक्त करता है तो दिखाई यह देता है कि एक बार चुने जाकर आ जाने के बाद वह अपने मतदाताओं की चिन्ता नहीं करता। साढ़े चार वर्ष तक अर्थात् दूसरा चुनाव सिर पर आने से कुछ पूर्व तक हमारा वह प्रतिनिधि इस बात को अनदेखा करता है कि उसके मतदाता किस विषय में क्या सोच रहे हैं और उसको कैसे अपना मत देना चाहिए। वहाँ (संसद या विधानमण्डल में) मतदान कैसे होता है ? उस 'प्रतिनिधि' का जो राजनीतिक दल होता है उसके निर्देश के अनुसार वहाँ मतदान होता है। और यह आवश्यक नहीं कि किसी भी प्रश्न पर उसके निर्वाचन-क्षेत्र के मतदाताओं के बहुमत की जो इच्छा रहेगी उसी प्रकार का निर्देश उसका राजनीतिक दल दे। सदैव ऐसा नहीं होता। बहुत बार उसके निर्वाचन-क्षेत्र का बहुमत एक ओर और उसके राजनीतिक दल का निर्देश दूसरी दिशा में रहता है। वर्षों पूर्व जो गोहत्या-विरोधी आन्दोलन चला था, उस समय आपने देखा होगा कि यदि संसत्सदस्यों को अपने निर्वाचन-क्षेत्रों की इच्छा के अनुसार मतदान का अधिकार होता तो वह विधान पहले ही पारित हो जाता। परन्तु जो इन प्रतिनिधियों को चुनकर भेजने वाले मतदाता हैं, उनका अधिकार तो केवल चुनने तक है। एक बार वह चुना गया तो उसके पश्चात् उसे संसद में मतदान कैसे करना है, इस बात पर उसके मतदाताओं का कोई अधिकार नहीं—कोई नियन्त्रण नहीं। बाद में तो वह अपने राजनीतिक दल के निर्देशानुसार मत देगा। इस कारण राजनीतिक दल जन-प्रतिनिधि और जनता के बीच एक अड़ंगा बन जाता है—बाधा बन जाता है। ऐसा लोगों ने अनुभव किया। इसलिये विचारकों ने कहा कि हम जो यह कह रहे हैं कि प्रतिनिधिक प्रकार की पद्धति में शक्ति का प्रतिनिधान (delegation of power) है, वह वास्तव में पाँच वर्ष के लिये शक्ति का प्रतिनिधान है या मतदाता की शक्ति का समर्पण ? क्योंकि एक बार चुनने के बाद आपका कोई नियन्त्रण तो उसके ऊपर रहता नहीं। यह विचार लोगों के मनों में आया और इस कारण विचारकों ने कहा कि यद्यपि अब्राहम लिंकन ने अपने गेटीसबर्ग भाषण में लोकतन्त्र की परिभाषा दी—जनता का शासन, जनता के द्वारा, जनता के लिये, परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। लोकतन्त्र जनता के लिये तो सरकार देता है, परन्तु जनता का शासन, जनता के द्वारा नहीं। आनुपातिक प्रतिनिधित्व और ब्रिटिश पद्धति में जो अन्तर है उसमें जाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जो आधारभूत दोष हैं, वे दोनों पद्धतियों पर लागू हैं।

फिर जो चुनाव-पद्धति है उसके कारण अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। सारी पद्धति धीरे-धीरे इतनी व्ययसाध्य हो जाती है कि उसमें पैसा ही 'वोट'

पाता है। गुण या योग्यता के आधार पर मतदान नहीं होता, यह तो सभी जानते हैं। इसपर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। दूसरा अन्तर्निहित दोष यह भी आ जाता है कि प्रत्येक चार-पाँच या छः वर्ष बाद यदि चुनाव होता है तो प्रतिनिधि को यह भी सोचना पड़ेगा कि अगले चुनाव में फिर से चुने जाने के लिये कौन सी नीति तुरन्त लोकप्रिय हो सकती है। इसलिये जन-प्रतिनिधि उन बातों में, जहाँ राष्ट्र-निर्माण जैसे कार्यों के लिये लम्बा विचार करना आवश्यक होता है, उदासीन दिखाई देता है। क्योंकि लम्बा विचार रखा और तात्कालिक अलोकप्रियता आ गयी तो अगला चुनाव हाथ से चला जायेगा। इस कारण पश्चिम में भी कोई दल लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत अपने देश के बारे में बहुत दीर्घकालिक दृष्टि लेकर काम नहीं करता। ऐसा अनुभव है। इंग्लैण्ड और फ्रान्स जैसे देशों का ऐसा दुःखद अनुभव है, हमारे देश में तो अभी ये सब नयी बातें हैं।

उन लोगों का दूसरा अनुभव यह रहा कि राजनीतिक दलों या राजनीतिक नेताओं के प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं है। प्लेटो ने कहा था कि लोकतन्त्र ठीक से चलाना हो तो शिक्षा देने की आवश्यकता है। परन्तु यहाँ मतदाता तो क्या, नेताओं के बारे में भी उल्टा होता है। वे इस बात को आँखों से ओझल करते हैं। इतना ही नहीं, अपितु लोग प्रशिक्षित न हो जायें—मतदाता जागरूक न हो बैठें—इस विषय में सतर्कता बरती जाती है। इसमें हम ध्यान में रखें कि राजनीतिक प्रचार (political propaganda) और राजनीतिक शिक्षा में बहुत अन्तर है। ऐसे प्रचार का अर्थ होता है कि हम अच्छे हैं, और सब बुरे हैं। प्रचार तो बहुत चलता है। वस्तुनिष्ठ राजनीतिक समाचार के बारे में शिक्षित करने का प्रयास होता नहीं। वह न हो, इस प्रकार की इच्छा दलों की रहती है। लोग गहराई से सोचने लगेंगे तो हवा में नहीं बहेंगे। लोकप्रियता की प्रतियोगिता प्रारम्भ होने पर प्रचार आवश्यक है और जनता शिक्षित हो जायेगी तो फिर प्रचार की कैसे चलेगी? नेताओं के कोरे आश्वासनों पर वे विश्वास कैसे रखेंगे? आश्वासनों की दौड़ चल नहीं सकेगी। इस दृष्टि से राजनीतिक शिक्षण की केवल उपेक्षा ही नहीं की जाती, अपितु दलों की यह इच्छा रहती है कि मतदाता-प्रशिक्षण और लोकमत-परिष्कार रुका रहे। ऐसा फ्रान्स, इंग्लैण्ड, इटली जैसे प्रगत देशों के विचारकों का अनुभव है। अपने यहाँ इससे कुछ भिन्न होगा तो अच्छा होगा। फिर जैसे शिक्षा नहीं होती, प्रत्यक्ष लोकतन्त्र आता नहीं, प्रतिनिधिक शासन में राजनीतिक दलों के कारण लोगों का प्रतिनिधित्व नहीं होता। इतना ही नहीं, वहाँ तो ऐसा अनुभव है कि दल के अन्दर भी लोकतन्त्र नहीं चलने देते। यदि ऐसी स्थिति रही कि दो दल हैं, शासक दल और विरोधी दल सन्तुलन में हैं—५१% और ४९%। उस समय यदि कोई बहुत महत्त्व का विषय हो, सिद्धान्त का विषय हो, तो भी दल का कोई भी सदस्य अपनी इच्छा के

अनुसार संसद में मत नहीं दे सकेगा। और सबसे गर्हित बात तो यह है कि इस प्रकार की लोकतान्त्रिक व्यवस्था में जो अस्थिरता आती है, उसके कारण उच्च स्तर पर हेराफेरी बहुत चलती है। हमारे यहाँ ही चलती हो, ऐसी बात नहीं है। जनता को बाद में पता चलता है। इस कारण जनता में नेताओं के बारे में तुच्छता की भावना निर्मित होती है और अस्थिरता को देखते हुए जनता सोचने लगती है कि ऐसे अनुचित प्रकार के लोकतन्त्र से तो अच्छा है कि सबल सर्वाधिकारवादी (तानाशाह) आ जाय। और वह सबल तानाशाह भी मतपेटी में से निकलता है। यह भी इतिहास यूरोप का है। इस प्रकार के अनेक दोष इस पद्धति में हैं, यहाँ सबका विवरण देना अनावश्यक है। अलेक्जेंडर सोल्जेनित्सिन ने कहा है :

"जिस समाज में राजनीतिक दल सक्रिय रहते हैं वह नैतिक मापदण्ड पर कभी ऊपर नहीं उठता। विश्व में आज जबकि हम धुँधले रूप में झलकते लक्ष्य की ओर शंका के साथ बढ़ रहे हैं, हमें आश्चर्य है कि क्या हम द्विदल या बहुदल पद्धति से ऊपर नहीं उठ सकते ? क्या राष्ट्रीय विकास के दलेतर या सर्वथा 'निर्दल' मार्ग नहीं हैं ?

"कुछ पश्चिम यूरोपीय देशों में द्विदलीय लोकतान्त्रिक पद्धति शताब्दियों रह चुकी है, परन्तु इसके संकटपूर्ण और सम्भवतः घातक दोष हाल के दशकों में अधिकाधिक प्रकट हुए हैं जब महाशक्तियाँ नैतिक आधाररहित दलीय संघर्षों से हिल उठी हैं। पश्चिमी लोकतन्त्र आज राजनीतिक संकट और आत्मिक विभ्रम की अवस्था में है। हमें अपने देश के लिये पश्चिमी लोकतन्त्र में से कोई मार्ग ढूँढ़ने की आवश्यकता आज गत शताब्दी के किसी भी समय की तुलना में अधिक होगी।"

इस पश्चिमी लोकतन्त्र का हमने अनुकरण किया। हमारे देश का संविधान बनाते समय भी हम लोगों ने उनका ही अनुकरण करते हुए ऐसा संविधान अपनाया है जिसके अन्दर भारतीय प्रकृति और भारतीय प्रतिमा का दर्शन नहीं होता। जो दोष हैं, वे कुछ तो मनुष्य-स्वभाव के होते हैं। मनुष्य-स्वभाव को स्वस्थ करने की आवश्यकता है, उसे प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है, राष्ट्रीय चेतना के स्तर को ऊपर ले जाने की आवश्यकता है। यह सब तो है, परन्तु आज जो पतन दिखाई देता है उसका बड़ा कारण यह है कि हमारा संविधान भारतीय पद्धति का नहीं है। लोग धीरे-धीरे इस बात का अनुभव करते जा रहे हैं। सचाई यह है कि जिन लोगों ने यह संविधान बनाया वे १००% भारतीयों का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। आज बहुत से लोग इस बात को भूल गये हैं। वे समझते हैं कि भारत का संविधान भारतीय जनता ने बनाया है। वह जनता का बनाया हुआ नहीं है—इस अर्थ में कि आज जैसे चुनाव में १००% के प्रतिनिधित्व का

अधिकार है, वैसा उस समय नहीं था। जिन्होंने संविधान बनाया, वे कितने लोगों का प्रतिनिधित्व करते थे ? उस समय चुनाव की पद्धति अलग थी। मतदान का अधिकार कुछ ही लोगों को था। बारह प्रतिशत लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले संविधान-सभा में बैठे थे। उन्होंने इस संविधान की रचना की। संविधान जब बन रहा था तब संविधान-सभा के अन्दर और बाहर यह बात कही जा रही थी कि इसमें बहुत से भाग १९३५ के 'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट' (भारत-शासन अधिनियम) से लिये गये हैं। यह 'गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट' अंग्रेजों ने बनाया था। 'फूट डालो और राज्य करो' उनकी नीति थी। इस नीति के अनुकूल अनेक प्रावधान उस अधिनियम में थे। हुआ यह कि छानबीन न करते हुए उस अधिनियम के अनेक भाग हमारे संविधान में लाये गये—जो विभाजनकारी स्वरूप के थे, वे भी। यह बात तब भी कही गयी थी कि इसके दुष्परिणाम होंगे। किन्तु 'राजनीतिक लोगों को सदा ही किसी बात की शीघ्रता रहती है जिसे हम नहीं जानते'। तो इस पर अधिक गहराई से विचार नहीं हुआ, किन्तु यह बात तब भी अनुभव की गयी थी कि संविधान में विभाजनकारी तत्त्व हैं। इसमें यह दोष है कि यह भारत के मूल स्वरूप को व्यक्त नहीं कर पा रहा। दो-तीन उदाहरण मैं रखना चाहता हूँ।

डॉ० सच्चिदानन्द सिन्हा कुछ समय तक संविधान-सभा के अध्यक्ष थे। उनका कथन है :

"तथापि, अपने एकमात्र रक्षक—लोगों (जनता)—की मूर्खता या भ्रष्टाचार अथवा असावधानी से संविधान एक घण्टे में ही नष्ट हो सकता है। जो शब्द मैं आपसे कह रहा हूँ वे आपके विचार करने के लिये हैं कि गणतन्त्रों का सृजन जन-भावना और नागरिकों की बुद्धिमत्ता के बल पर होता है। उनका पतन हो जाता है जब जन-परिषदों से बुद्धिमान निष्कासित कर दिये जाते हैं। वे सच्चरित्र कहलाने का दुस्साहस करते हैं और दुश्चरित्र पुरस्कृत होते हैं, क्योंकि वे लोगों से छल करने के लिये उनकी चाटुकारी करते हैं।"

संविधान के मुख्य शिल्पकार माने जाने वाले डॉ० अम्बेडकर ने टिप्पणी की :

"नवम्बर, १९४९ में लोगों ने स्वयं को जो संविधान दिया, यदि वह सन्तोषजनक रीति से कार्य न करे तो भविष्य में हमें कहना होगा कि संविधान असफल नहीं हुआ है, वरन् मनुष्य ही दुष्ट हैं।"

हमारे प्रथम राष्ट्रपति और संविधान-सभा के सभापति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने अपनी विदाई के समय कहा :

"मैं विधान-सभा के सदस्यों के लिये कुछ योग्यता निर्धारित किया जाना पसन्द करता। यह विसंगतिपूर्ण है कि जो विधि (law) का प्रशासन लागू करें या प्रशासन करने में सहायता करें उनके लिये तो हम उच्च योग्यताओं पर बल

दें, परन्तु जो विधान बनायें उनके लिये कुछ नहीं अतिरिक्त इसके कि वे चुने गये हों। स्वतन्त्र रूप से कार्य करने के लिये विधि-निर्माता को संतुलित विचार करने की क्षमता से भी कहीं अधिक बौद्धिक साधन की आवश्यकता होती है और सबसे बढ़कर आवश्यकता होती है चरित्रसम्पन्न जीवन के लिये आधारभूत बातों के प्रति सच्चा होने की। मनुष्य के नैतिक गुणों को मापने के लिये मापदण्ड का निर्माण करना सम्भव नहीं है और जब तक वह सम्भव नहीं होता, हमारा संविधान दोषपूर्ण रहेगा।" ये कितने भविष्यवक्ता शब्द हैं! इस विषय के अधिकारी व्यक्तियों में से एक श्री पी० कोटेश्वरराव का भी एक छोटा-सा उद्धरण दे रहा हूँ। उन्होंने कहा :

"हमारा संविधान न भारतीय है न गांधीवादी। यह जनता का संविधान नहीं है। अपनी व्यवस्थाओं में जन-प्रतिभा और राष्ट्र के स्वभाव को व्यक्त करने के लिये यह जटिल, भ्रामक और विसंगतिपूर्ण है। वह अग्राह्य प्रकार का बन गया है। संविधान-निर्माण के लिये कच्ची सामग्री स्वदेश-भूमि से नहीं प्राप्त की गयी है। इसकी प्रेरणा प्राचीन मनीषा से नहीं ली गयी है। सामान्य जन की आवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ उन्हें साकार करने वाले किसी तन्त्र की रचना किये बिना केवल घिसे-पिटे शब्दाडम्बर और खोखले प्रावधानों में व्यक्त कर दी गयी हैं। संविधान-निर्माण में जन-सहभागिता थी ही नहीं। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विचारधाराओं की पाश्चात्य अवधारणाओं का परिस्थितियों से किसी प्रकार की प्रासंगिकता के बिना ही आयात कर लिया गया है। इसमें प्राथमिकताओं का उचित विवेक नहीं है। इसके अनेक भागों में संशोधन, अनेक भागों को इससे निकाल देने तथा बहुत से नये प्रावधानों को इसमें सम्मिलित करने की आवश्यकता है। अतः यह उपयुक्त समय है कि सब बातों का वस्तुनिष्ठ विचार किया जाये और इस संविधान को निरस्त कर दिया जाय। स्वदेशी समाजवादी सच्चे लोकतान्त्रिक संविधान से इसे प्रतिस्थापित करके इसका बस्ता बाँध दीजिए।"

ये केवल उदाहरणस्वरूप कुछ बातें आपके समक्ष रखीं। कहने का अभिप्राय यह है कि जिनका संसदीय लोकतांत्रिक पद्धति में हम लोग अनुकरण कर रहे हैं वे बेचारे स्वयं त्रस्त हैं कि उसमें जो त्रुटियाँ हैं उनको कैसे दूर किया जाय। वैसे उनके वर्तमान विचारकों ने कहा है कि उन्होंने इस पद्धति को इसलिये नहीं अंगीकार किया कि यह सर्वश्रेष्ठ है, वरन् इसलिये लिया कि यह सबसे कम दोषपूर्ण है। उन्होंने अलग-अलग देशों में कुछ प्रयोग भी किये।

'प्रतिनिधिक स्वरूप की सरकार' और 'प्रत्यक्ष लोकतन्त्र' में जो खाई है उसे पाटने के लिये कुछ उपायों का कहीं-कहीं प्रयोग किया गया है, यथा—वापस बुलाने का अधिकार, जनमत जाग्रत करने का अधिकार, जनमत-संग्रह आदि।

किन्तु ये उपाय भी प्रतिनिधिक प्रणाली और प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की खाई को मिटा नहीं सकते, ऐसा उनका अनुभव है। तो, जिनका हम अनुकरण कर रहे हैं उनकी व्यवस्था कोई विशेष अच्छी नहीं है। उनके अनुभवों पर ध्यान न देते हुए हमने उनका अन्धानुकरण किया।

अब दूसरे पक्ष की बात को लें कि हमारे यहाँ कोई लोकतान्त्रिक पद्धति ही नहीं थी, केवल निरंकुशता थी, राजतन्त्र था। ये राजा निरंकुश मनमानी करते थे। राजनीतिक चिन्तन यदि कुछ आया तो पश्चिम से आया, ऐसा हमें बताया गया। पिछली शती में यह विचार सुशिक्षित लोगों में भी प्रचलित हुआ था। किन्तु कुछ लोगों को अपने इतिहास का अपनी रीति से अध्ययन करने की इच्छा हुई। इससे यह पता चला कि वे बातें असत्य थीं। यह जो हमारा प्राचीन राष्ट्र है, यह पर्याप्त विकसित था। जब यूरोप के आज के प्रगत राष्ट्र पिछड़े हुए थे, तब राजनीतिक और सांविधानिक दृष्टि से हमारे यहाँ के लोग पर्याप्त प्रगत थे। यह देखकर हमारे विद्वानों को आश्चर्य हुआ। एक छोटा सा मापदण्ड बनाना हो तो उधर के अरिस्टॉटल और हमारे कौटिल्य लगभग समकालीन थे। उस समय क्या स्थिति थी दोनों की ? अरिस्टॉटल सिद्धान्त रूप में एक पद्धति के निर्माण का प्रयास कर रहे थे और उनका विचार इस बात पर केन्द्रित था कि राज्य कितने प्रकार के हो सकते हैं। इस पर वे सैद्धान्तिक चिन्तन कर रहे थे। उसी समय भारत में कौटिल्य राज्य के विभाग कितने रहें, उसके अवयव कितने हों, इसका केवल विचार ही नहीं कर रहे थे, अपितु इसे लागू कर रहे थे। उन्होंने राज्यतंत्र को १८ विभागों में बाँटा था। उसके सात अवयव उन्होंने बनाये जिनको 'प्रकृति' कहा। राजा को सर्वेसर्वा नहीं बनाया, वरन् सात में से एक प्रकृति उसको रखा। तो जब वास्तविक प्रशासन और राज्य-संगठन पर केवल विचार ही नहीं, अपितु आचरण भी भारत में हो रहा था, उस समय पश्चिम में केवल राज्य कैसे—कितने प्रकार के—हो सकते हैं, इसपर सैद्धान्तिक विचार-विमर्श ही चल रहा था। इतना दोनों में अन्तर था। इससे पश्चिमात्य लोगों का यह प्रचार असत्य सिद्ध होता है कि हमारे यहाँ कुछ नहीं था और जो पश्चिम से आया हुआ विचार है उसी के कारण हमारे लोग थोड़ा-बहुत पढ़ सके हैं। यह विचार करते ही सारा भ्रम दूर हो जायेगा। एक ही बात है कि अपनी नयी रचना का विचार करना हो तो उसमें हमारी प्रकृति क्या है, यह देखना चाहिए और प्रकृति ऐतिहासिक विकासक्रम के आधार पर ही निश्चित की जा सकती है। एक प्रश्न आता है कि जिस लोकतन्त्र का गुणगान पश्चिम में किया जाता है और जिसके नाम पर जो भी सही-गलत मान्यता है, एक अर्थ में हम उसका उपयोग कर रहे हैं, क्या उसका भाव हमारे यहाँ था ? इसके लिये पहले यह देखा जाय कि हमारी प्रकृति क्या है। उसके अनुसार यह भी विचार हो सकता है कि आज हम क्या कर सकते

हैं और उसकी दिशा क्या हो सकती है। यहाँ विस्तार में न जाकर केवल दिशा-दर्शन के नाते अपनी प्रकृति क्या है, उसका विकास कैसे हुआ, विकास का क्रम क्या रहा, इसका संक्षेप में विचार करके इस दिशा में आज के दोषों को टाल कर आगे जाने के क्या कोई सुझाव आये हैं, यह हम देखेंगे।

ऐसा दिखता है कि सर्वथा प्रारम्भ में यहाँ केवल लोग थे, किन्तु संस्थाएँ नहीं थीं—"विराड्वा इदमग्र आसीत्", ऐसा कहा गया है। आज लोग कहते हैं कि हमारे सामने बड़ी राजनीतिक समस्या है। वैविध्यपूर्ण समाज है। भाषा के भेद, प्रान्त के भेद, जातियों के भेद आदि-आदि हैं। उस समय का यदि मैं आपको बताऊँ तो आपको आश्चर्य होगा। अथर्ववेद का उद्धरण है :

जनं विभ्रती बहुधा विवाचसम्
नाना धर्माणां पृथिवी यथौकसम्
सहस्र धारा द्रविणस्य मे दुहाम्
ध्रुवेन धेनुं रनप्रस्फुरन्ती ॥ (अथर्व० १२-१-४५)

अर्थात् विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले, विभिन्न धर्मों के—माने स्वभाव-धर्म के—लोगों को विभिन्न प्रकारों से एक ही घर में रहने वाले एक परिवार के लोगों के समान जो धारण करती है वह हमारी मातृभूमि बिना हिचकिचाहट के दूध देने वाली गाय के समान धन की सहस्रों धाराएँ हमें प्रदान करे। यह अथर्व की बात है। अर्थात् तभी से हमारा वैविध्यमय स्वरूप चला आ रहा है। कोई नयी बात नहीं है। उस विशेषता को समेटकर एकात्मता का निर्माण उस समय हो सका। आज उसको तोड़ने की चिन्ता में हम लोग हैं। इतना ही अन्तर है। अलग-अलग लोग थे। अथर्व के अनुसार सर्वप्रथम परिवार संस्था का निर्माण हुआ। 'सा उदक्रामत्—सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्।' (अथर्व ८।१०।२) इसका अर्थ है कि विराट् स्थिति से उत्क्रान्ति हुई गार्हपत्य स्थिति में। अर्थात् विवाह संस्था तथा परिवार संस्था का निर्माण हुआ। इस प्रकार सर्वप्रथम गृहपति का निर्माण हुआ। उत्क्रान्ति की अगली अवस्था भी अथर्व में है। 'सा उदक्रामत्—सा आहवनीये न्यक्रामत्।' उस संस्था की उत्क्रान्ति आहवनीय संस्था में हुई जहाँ एक ही क्षेत्र में रहने वाले सब परिवारों के लोग एकत्रित होकर सामूहिक कार्य—यज्ञ आदि—करने लगे तथा एकत्रित विचार-विमर्श करने लगे। इससे अगली अवस्था सभा की थी जिसके सदस्य को 'सभ्य' कहा जाता था—'सा उदक्रामत्, सा सभायां न्यक्रामत्। यन्ति अस्य सभां सभ्यो भवति ॥' इस प्रकार स्थान-स्थान पर ग्राम-सभाओं का निर्माण हुआ। उसकी उत्क्रान्ति राष्ट्र-समिति में हुई। राष्ट्र-समिति के सदस्य की 'सामित्य' संज्ञा थी। 'सा उदक्रामत्, सा समितौ न्यक्रामत्। यन्ति अस्य समितिं सामित्यो भवति ॥' जो राष्ट्रसमिति रहती थी उसकी उत्क्रान्ति आमन्त्रण-परिषद् में हुई। मन्त्रिमण्डल का निर्माण उसमें से हुआ, जिसके सदस्यों

को 'ग्रामन्त्रणीय' संज्ञा दी गयी थी। 'सा उदक्रामत् साऽऽमन्त्रणे न्यक्रामत्। यन्ति ग्रस्य ग्रामन्त्रणं ग्रामन्त्रणीयो भवति॥' इस प्रकार विभिन्न शासन-प्रणालियों का हमारे यहाँ इस ग्रवस्था के पश्चात् उद्भव हुग्रा। पश्चिम में जैसे एक दुराग्रह रहता है कि एक शासन-प्रणाली यदि कोई चुन लेता है तो कहता है कि सारे संसार में, सारे समयों के लिये उपयुक्त कोई पद्धति है तो उसीकी है। किन्तु हमारे यहाँ ऐसा नहीं माना गया। यह माना गया कि एक तो परिस्थिति ग्रौर फिर मनो-रचना के अनुसार ग्रलग-ग्रलग कालखण्डों में या एक ही समय ग्रलग-ग्रलग भूभागों में ग्रलग-ग्रलग शासन-प्रणालियाँ चल सकती हैं। इस प्रकार बारह-तेरह प्रकार की शासन-प्रणालियाँ ग्रपने यहाँ प्राचीन काल में चलती थीं। उनमें ग्रब ग्रौर भी कोई प्रकार जुड़ सकता है। ग्रपने यहाँ जो हम सुनते हैं 'स्वस्ति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयम् समन्तपर्यायी स्थात् सार्वभौमः सार्वायुष ग्रान्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताय एकराटिति॥' ये सब शासन-प्रणालियाँ हैं। मनुष्य की प्रतिभा के अनुसार तथा परिस्थिति की ग्रावश्यकता के ग्रनुकूल इनमें ग्रौर भी वृद्धि की जा सकती है। ये भाँति-भाँति की शासन-प्रणालियाँ ग्रलग-ग्रलग समयों तथा विभागों में निर्मित हुईं। किन्तु यह निर्माण—यह विकास—किसने किया? ग्रगुग्रा कौन थे? सूत्रपात् करने वाले कौन थे? ग्रपने यहाँ की विशेषता यह दिखती है कि राज्य-सत्ता के पीछे रहने वाले राजनीतिक लोगों ने इनका सूत्रपात्, इनका गठन नहीं किया। जो राज्यसत्ता के पीछे नहीं थे, ऐसे लोगों ने इनके निर्माण में ग्रगुवाई की।

भद्रम् इच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदः
तपो दीक्षां उपसेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलं ग्रोजश्च जातम्
तदस्मै देवा उपसंनयन्तु॥

इसका ग्रर्थ यह है कि ग्रात्मज्ञानी ऋषियों ने प्रारम्भिक काल में जो तप किया उससे राष्ट्र का, बल का तथा ग्रोज का निर्माण हुग्रा। यह राष्ट्र देवताग्रों की सेवा करने योग्य है। उन्होंने उदाहरण भी दिया है कि यह जो राष्ट्र था, यह विश्रृंखल हुग्रा था। कोई किसी की मानता नहीं था। यह दुर्बल हो गया था। यहाँ उपमा दी है कि ऋषियों ने किस प्रकार का काम किया :

दण्डा इवेद् गो ग्रात्रनास ग्रासन्
परिच्छिन्ना भरता ग्रर्भकासः।
ग्रभवच्च पुरएता वसिष्ठ
ग्रादित् तृत्सूनां विशो ग्रप्रथन्त॥

ग्रर्थात् गायों को ग्रागे बढ़ाने के लिये उपयोग में लाये जाने वाले दण्ड जैसे निर्बल ग्रौर पृथक् हुग्रा करते हैं वैसे ही निर्बल ग्रौर पृथक्-पृथक् भारत लोग

बालिश (बच्चों जैसे) तथा परिच्छिन्न थे। किन्तु उनके नेता ऋषि वशिष्ठ हुए, तब ये ही भारतीय लोग प्रख्यात एवं समृद्ध हुए। अभिप्राय यह कि राजसत्ता के पीछे भागने वाली राजनीतिक पद्धति यहाँ गठित नहीं की गयी। जो उससे अलग हैं, पद्मपत्रमिवाम्भसि जिनकी भूमिका है, इन लोगों ने स्वयं कोई आकांक्षा न रखते हुए, जन-कल्याण के लिये कौन सी प्रणाली उचित हो सकती है, इसका वस्तुनिष्ठ निष्पक्ष विचार करते हुए अलग-अलग विभागों में अलग-अलग शासन-प्रणालियों का निर्माण किया था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इनमें एक प्रणाली राजप्रणाली है और जैसा मैंने कहा, राजा हमारे यहाँ 'मोनार्क' (मनमानी शासक) बिल्कुल नहीं था। राजा में बाद में जो दोष आये, वे अभी-अभी के हैं। हिन्दुस्थान में अहिन्दुओं का शासन होने के पश्चात्, जिनमें ब्रिटिशों का भी समावेश है, वहाँ की शासन-प्रणाली के जो दोष थे—वे बादशाद या मोनार्क के दोष थे—उनका प्रतिबिम्ब हमारे यहाँ की प्रणाली पर पड़ा। यह जो विकृति है, अभी-अभी की है, कुछ शताब्दियों की है। प्रारम्भ में यह सतर्कता बरती गयी थी कि इस प्रकार की निरंकुशता निर्मित न हो और इस दृष्टि से राजा के बारे में सूक्ष्मता से विचार किया गया था। राज्याभिषेक के जो मंत्र थे वे भी यही प्रकट करते हैं। मैं भाषान्तर देता हूँ। राज्याभिषेक में जनता राजा से कहती है— हम तुम्हें यहाँ लाये हैं। भीतर आ जाओ। स्थिर रहो, अस्थिर (चंचल) न बनना। तुम्हें अध्यक्ष के स्थान पर रखने की इच्छा सभी प्रजाजनों में रहे। राष्ट्र तुम्हारे द्वारा अधःपतित न हो।

शा त्वाहा षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठ अविचाचलिः
तिशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रं अधिभ्रशत्।

तेरे कारण राष्ट्र भ्रष्ट न हो, इस प्रकार की बात जनता उससे कहती थी। उसी में दूसरी बात आती है— सब दिशाओं में रहने वाले प्रजाजन एकमत से तुझे राजपद पर रखने की इच्छा रखें, ऐसा उसको आशार्वाद देते थे। तेरे राजपद को स्थिर रखने में राष्ट्रसमिति समर्थ हो—

सर्वादिशः संगनसः संध्राचीः।
ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥ (अथर्व० ६।८८।३)

'तेरे राजपद को स्थिर रखने में राष्ट्रसमिति समर्थ हो' का अर्थ यह हुआ कि वह सर्वशक्तिमान नहीं था। सर्वशक्ति प्रजा में थी। सर्वशक्तिमती प्रजा और राजा के मध्य राष्ट्रसमिति थी। राष्ट्रसमिति यदि उसको चाहेगी तो प्रजा को राजी करेगी, नहीं तो उसको हटना पड़ेगा। यह पद्धति थी। इस कारण यूरोपीय मानक से यह मापा नहीं जा सकता, यही कहने का अभिप्राय है। राजा निर्वाचित पद था। आनुवंशिक पर्याप्त बाद में हुआ। और प्रजा यदि रुष्ट हो जाती थी तो राजा टिक भी नहीं सकता था। इसके अनेक उदाहरण हैं। एक

उदाहरण राजा प्रजापति का है। उसने उस समय की राष्ट्रसमिति अर्थात् संसद् का उल्लंघन करने का प्रयास किया। उस राजा को किस प्रकार हटाया, इसका वर्णन आता है। दूसरा सुप्रसिद्ध वर्णन जानते हैं कि राजा वेण ने असंसदीय व्यवहार किया तो उसको हटाया गया। उसको हटाये जाने के बाद, ध्यान में रखने की बात यह है कि उसके पुत्र से कहा गया कि तुमको राजा तो हम बनाते हैं, किन्तु हमारी कुछ शर्तें हैं। वे स्वीकार करनी होंगी। उसको यह प्रतिज्ञा ग्रहण करने पर बाध्य किया गया :

यन्माम् भवन्ती वश्यन्ति कार्यमर्थ समन्वितम् ।
तदहं वः करिष्यामि नात्र कार्याविचारणा ॥

आप प्रजाजन जो कुछ भी कहेंगे, वही मैं करूँगा। दूसरा कुछ नहीं करूँगा। आपकी प्रसन्नता का कार्य ही करूँगा। ऐसा उससे कहलवाकर, प्रतिज्ञा करवाकर, तब राजा बनाया। राज्याभिषेक के समय के मन्त्र स्पष्ट करते हैं कि कितनी सीमाएँ राजा की थीं और प्रभुसत्ता किस प्रकार जनता की थी। राजा तो केवल मुख्य प्रशासनाधिकारी था। इस कारण राज्याभिषेक के मन्त्रों में उसे प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी—मैं सदैव देश को दैवी मानकर उसकी रक्षा करूँगा। जो भी विधान है, जो भी नीति द्वारा निर्देशित है और जो न्याय के विरुद्ध नहीं है, वही मैं करूँगा। मैं अपनी इच्छापूर्ति के लिये कार्य नहीं करूँगा।

प्रतिज्ञां चाभिरोहाश्व मनसा कर्मणा गिरा
पालयिष्याम्यहं भौम ब्रह्म इत्येवमासकृत ।
यश्चात्र धर्मनीत्युक्तो दण्डनीति व्यपाश्रयः
तमसमः करिष्यामि स्ववासो न कदाचन ॥

अपनी इच्छानुसार मैं नहीं चलूँगा, ऐसा उसको कहना पड़ता था और इस कारण जहाँ कुछ विचलन राजा के द्वारा हो गया तो साधारण मनुष्य जाकर उसे डाँट-फटकार आया, यह भी इतिहास में आता है। अधिक नहीं केवल एक छोटा सा उदाहरण बताता हूँ। यह तीसरी शताब्दी का है, अर्थात् अभी का है। राजा गड़बड़ करने वाला था तो एक बौद्धभिक्षु आर्यदेव ने जो कहा उसका वर्णन आता है—

जनदासस्य ते दर्पः षाड्भागेन भृतकस्यकः ।

अरे, तू तो जन का दास है। तुझे गर्व हो रहा है? तू तो हमसे आय का छठा भाग अपने वेतन के रूप में लेकर हमारी सेवा करने वाला नौकर है। और हमसे तू गुर्रऽऽ कर रहा है? एक भिक्षु राजा से यह कह सके खुले में, ऐसी अवस्था थी! यह केवल दृष्टान्त रूप में एक प्रसंग आपके सामने रखा। यूरोपीय लोगों ने जो आरोप हमारी प्रकृति पर किया, वह बात सत्य नहीं है।

हमारे यहाँ कोई रूढ़ि शासन-प्रणाली के बारे में नहीं है। भाँति-भाँति की

शासन-प्रणालियाँ हो सकती हैं। लोकतन्त्र में यदि कोई अच्छा भाव है तो हमारी भी मनोरचना उसके अनुकूल है। परन्तु वहाँ की परिस्थिति जैसी की तैसी उठाकर यहाँ नहीं लायी जा सकती। हमारी जो परम्परा है, हमारी जो प्रतिभा है, हमारी जो विशेषता है, उनको ध्यान में रखकर नयी रचना करनी पड़ेगी। इस दृष्टि से कुछ मार्गदर्शक सिद्धान्त हो सकते हैं। वे ठीक से प्रतिपादित भी किये गये हैं और जैसे ही उनका कार्यान्वियन प्रारम्भ होगा, तब अन्तिम रूपरेखा (blue print) भी तैयार हो सकती है। अपने यहाँ के एक श्रेष्ठ मार्गदर्शक श्री गुरुजी ने इस सम्पूर्ण प्रश्न की समालोचना विस्तारपूर्वक की और कहा कि आज की रचना तो उपयुक्त नहीं है। हम नयी रचना अपने ढंग की चाहते हैं। उसकी क्या विशेषताएँ हों, इसका उन्होंने यह संकेत दिया कि आज की संरचना केवल क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की है। इसके कारण अनेक विकृतियाँ आ जाती हैं, दृष्टिलाघव आ जाता है। इसको हटाकर दूसरी रचना लायें, ऐसा यद्यपि आज एकाएक नहीं कहा जा सकता, तो भी कमसे कम इसको सम्पूरित (suppliment) करने वाले वृत्तिमूलक (functional) प्रतिनिधित्व की व्यवस्था तो होनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि विधान-मंडल, संसद या निगमों में यदि कुछ सदस्य क्षेत्रों के प्रतिनिधियों के रूप में आते हैं तो कुछ कार्यों या व्यवसायों के प्रतिनिधि बनकर आयें।

वृति या व्यवसायमूलक प्रतिनिधित्व हमारे देश में नयी बात नहीं है। वस्तुतः इसीकी विकृति जातिवाद में हुई। परन्तु इसकी मूल प्रकृति उससे अलग है। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का अर्थ यह है कि जैसे १६ लाख रेल-कर्मचारी हैं, उनका एक प्रतिनिधि संसद में होना चाहिए। ५ लाख अभियांत्रिकीय (इंजीनियरिंग) कर्मचारी यदि बम्बई में हैं तो उनका एक प्रतिनिधि महाराष्ट्र की विधान-सभा में होना चाहिए। व्यापारियों का अलग और वकीलों का अलग प्रतिनिधि विधान-सभा में रहे। जो-जो आर्थिक कार्य हैं, आर्थिक हित हैं, उनका प्रतिनिधित्व विधायिका में हो। केवल संख्या के आधार पर हो, या जैसा यूगोस्लाविया में है वैसा हो। यूगोस्लाविया में वृत्तिमूलक प्रतिनिधित्व को बड़े परिमाण में स्वीकार किया गया है और उन्होंने उसका आधार केवल यह नहीं रखा है कि वृत्ति या कार्य में कितने लोग हैं। संख्याबल उसका आधार नहीं रखा है। जिस कार्य या व्यवसाय का जितना योगदान समग्र राष्ट्रीय उत्पादन में या समग्र राष्ट्रीय सम्पत्ति में है उस मात्रा में उसको प्रतिनिधित्व मिलने की वहाँ व्यवस्था है। आधार कुछ भी रखा जा सकता है। राष्ट्रीय उत्पादन में योगदान भी रखा जा सकता है, संख्या भी रखी जा सकती है। किन्तु सिद्धान्ततः यह बात स्वीकार की जाय कि क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के सम्पूरक के रूप में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व हो। यह एक बात उन्होंने कही।

दूसरी बात वह कही जो भारत के इतिहास, प्रकृति और परम्परा के अनुकूल है। यह कि निचले स्तर पर जितने चुनाव हैं वे सब निर्विरोध हों। ब्रिटिश पद्धति का बहुमत-अल्पमत न हो। और, यदि निर्विरोध नहीं होता तो कोई चुनाव नहीं होगा। उस निकाय को भंग रहने दिया जाय। इतना आग्रह रखा। उनका स्पष्ट विचार था कि यदि यह आग्रह रखा जाता है तो इससे आधार स्तर (grassroot level) पर परिवर्तन आयेगा। यह बहुमत-अल्पमत की पद्धति जब तक आधार स्तर पर है, तब तक न जातिवाद मिट सकता है, न साम्प्रदायिकता मिट सकती है। अतः आग्रहपूर्वक कहा जाये कि निचले स्तर के जितने चुनाव हैं, वे सब एकमत से होंगे और एकमत से नहीं होंगे तो चुनाव ही नहीं होंगे।

लोगों के धैर्य की सीमा है, अतः अवश्य ही कालान्तर में उनको चुनाव तो करना पड़ेगा और एकमत से वही चुनकर जा सकता है जो सभी धड़ों से ऊपर है। आज की पद्धति में उसी को बढ़ावा मिलता है जो अधिक धड़ेबन्दी वाला, अधिक गुटबन्दी वाला है। एकमत चुनाव की पद्धति में यह नहीं होगा। निष्पक्ष लोग ही उसमें ऊपर आ सकेंगे।

तीसरी बात उन्होंने कही कि जैसी परिस्थिति होगी, उसमें सूत्ररूप सिद्धान्त को कार्यरूप देने वालों को रूपरेखा बनानी चाहिए कि इस पद्धति से धीरे-धीरे ऐसा लोकतन्त्र विकसित हो जो दलविहीन रहे। राजनीतिक दल का अस्तित्व कोई आवश्यक नहीं। लोकतन्त्र लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाला हो। यह सीधे प्रतिनिधित्व करने वाला रहे, बीच में दलालों की— बिचौलियों की आवश्यकता नहीं है। जैसे कुछ लोगों ने कहा कि भक्त और भगवान के बीच में इन पंडा लोगों की आवश्यकता नहीं है। लोग सीधे अपना प्रशासन स्वयं चला सकें। तो इस प्रकार दलविहीन लोकतन्त्र कैसे लाया जाय, यह सोचा जा सकता है। यह उनकी तीसरी बात थी।

इस प्रकार मार्गदर्शक सिद्धान्त के रूप में कुछ बातें उन्होंने रखीं। प्रचलित क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के सम्पूरण के लिये वृत्तिमूलक प्रतिनिधित्व, निचले स्तर पर निर्विरोध चुनाव तथा सम्पूर्ण पद्धति का निर्दलीय लोकतन्त्र के रूप में विकास— ऐसा मार्गदर्शन उन्होंने सूत्र रूप में दिया है तथा यह भी कहा है कि परिस्थिति को देखते हुए इसमें और परिवर्तन हो सकता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि यह विषय समझते समय हमें यूरोपीय या 'काले यूरोपीय' लोगों द्वारा पढ़ायी गयी बातें भूलनी भी पड़ेंगी और नये प्रकार से अपने इतिहास एवं पद्धतियों का अध्ययन करना पड़ेगा। अपने लिये कैसी पद्धति अनुकूल हो सकती है, इसका विचार करना पड़ेगा। यह केवल दिशा-संकेत है। इसमें आगे विचार करने के लिये बहुत सम्भावना है। ऐसी नयी रचना की क्षमता हम लोगों की प्रतिभा में अवश्य है, ऐसा अवसर मिलना चाहिए।

१६-१-८० (भा० म० सं० अखिल भारतीय अभ्यास वर्ग, पुणे)

भारतीय प्रौद्योगिकी

परम्परागत भारतीय संस्कृति के प्रबुद्ध उपासकों का बहुधा यह कहकर उपहास किया जाता है कि वे प्रतिक्रियावादी हैं। वास्तव में तथ्य यह है कि जहाँ तक प्रगति का सम्बन्ध है, उसके लिये रूढ़िवादियों और आमूल परिवर्तनवादियों में समान ललक हो सकती है। सतर्कतामिश्रित प्रगतिवाद रूढ़िवाद है; दुस्साहस-पूर्ण प्रगतिवाद आमूल परिवर्तनवाद है। सतर्कता की अति, कायरता की द्योतक है और वह यथास्थितिवाद की ओर ले जाती है। दुस्साहस की अति, चरम दायित्वहीनता दर्शाती है और घोर अव्यवस्था को जन्म देती है। आमूल परिवर्तन-वादी ऐसी स्थिति उत्पन्न तो कर सकते हैं, पर उस पर नियन्त्रण नहीं रख सकते।

भारतीय संस्कृति इन दो अतियों के बीच उत्कृष्ट मध्य-मार्ग का अनुसरण करने का प्रयास करती है। वह सतर्कता का समर्थन करती है, पर उसमें कायरता के लिये कोई स्थान नहीं। वह साहसिकता का आदर करती है, पर पूर्ण दायित्व के साथ। हमारी संस्कृति का भवन धर्म की दृढ़ भित्ति पर टिका हुआ है। धर्म के नियम सनातन सार्वभौम नियम हैं जिन्हें हमारे द्रष्टाओं ने अपने ज्ञान-चक्षुओं से देखा था। इन्हीं सार्वभौम नियमों को दृष्टि में रखते हुए समय-समय पर सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन किये गये तथा नित्य परिवर्तनशील परि-स्थितियों और नित्य नवीन समस्याओं का समाधान खोजा गया।

कोई वस्तु पश्चिमी है, इस आधार पर उसे हम न तो आँख मूँदकर स्वीकार कर लेते हैं और न ही अस्वीकार कर देते हैं।

हमारे देश के तथाकथित प्रगतिवादी पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध से चौंधिया गये हैं, उसके तीव्र प्रवाह में बह गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिम की वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक प्रगति अपना प्रभाव छोड़ती है। विकासशील देश के नाते हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम उनकी भौतिक उन्नति के विभिन्न पक्षों का सूक्ष्म अध्ययन करें और देखें कि कितना अनुकरण, रूपान्तरण, आत्मसात्करण अथवा अस्वीकरण करना है।

परन्तु हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि विदेशी प्रौद्योगिकी (टैक्नोलॉजी) का आयात अथवा अनुकरण तभी हो सकता है जब हम साथ-साथ उस प्रौद्योगिकी को जन्म देने वाले देश या देशों की संस्कृति का भी आंशिक रूप

से आयात अथवा अनुकरण करें। विदेशी युक्ति, विधा या प्रौद्योगिकी को ग्रहण करते समय हमें सावधानी बरतनी पड़ेगी। उन्हें अपनी संस्कृति के अनुकूल ढालना होगा। सजग प्रयास करके प्रत्येक विदेशी वस्तु को इस प्रकार ढालना होगा कि वह हमारी अपनी संस्कृति के रंग में रंग जाये, उसी में घुल-मिल जाये।

पश्चिम का संकीर्ण मानव-केन्द्रवाद (होमोसेंट्रिसिज्म)

भारतीयों के विपरीत पाश्चात्य लोगों ने मानव-केन्द्रवाद की वृत्ति को पाल लिया है। इतना ही नहीं, जहाँ पश्चिम को इस बात का श्रेय है कि उसने ऐसे अनेक वैज्ञानिक और धर्म-गुरु दिये हैं जिन्होंने मानव-कल्याण के संवर्द्धन के लिये अपने प्राणों को दाँव पर लगाया है, वहाँ यह भी तथ्य है कि औसत पश्चिमवासी के पास इतना समय नहीं है कि वह भावी पीढ़ी के बारे में दूरदर्शिता का परिचय दे सके। वह दूरदर्शी हो ही नहीं सकता। जिसमें उसे या उसकी पीढ़ी को तत्काल लाभ दीख पड़ता है, उसे स्वीकार करके कार्यरूप दे दिया जाता है। इसकी परवाह नहीं की जाती कि मानव-जाति के भविष्य पर उसके क्या दूरगामी प्रभाव पड़ेंगे।

उदाहरण के लिये, वह अपने प्राकृतिक पर्यावरण का निरन्तर दुरुपयोग कर रहा है। वह प्राकृतिक संसाधनों को अन्धाधुन्ध निचोड़ रहा है। इससे पूर्व की तुलना में पश्चिम का पलड़ा कुछ भारी हो गया है। किन्तु यह भी सच है कि डेढ़ शती से भी कम समय के भीतर विभिन्न प्रकार के ईंधन का वह भण्डार पूर्णतया चुक जायेगा जो प्रकृति ने हमें दिया है। आज वैज्ञानिक अणु-शक्ति के उपयोग के दीवाने हो रहे हैं। किन्तु विश्व में यूरेनियम और थोरियम का अक्षय भण्डार नहीं है। इससे भावी पीढ़ी का कल्याण किस प्रकार सिद्ध होगा?

हिन्दू दृष्टिकोण

हिन्दुओं ने प्रकृति को सदा माता का सम्मान दिया है। यहाँ तक कि जब वे गौमाता को भी दुहते हैं तो इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि उसके बछड़े के लिये पर्याप्त दूध बच रहे ताकि वह भूख से तड़पकर न मर जाये। उन्होंने अपने लिये प्राकृतिक संसाधनों के विदोहन में भी पूर्ण सावधानी बरती है। ऐसा करते समय उन्हें पूरा ध्यान रहता है कि भावी पीढ़ी के लिये पर्याप्त मात्रा बची रहे और माता-स्वरूपा प्रकृति का अन्धाधुन्ध विनाश न कर डाला जाये। इससे उन्हें अनेक तात्कालिक लाभ नहीं हुए, किन्तु प्रकृति का सन्तुलन बना रहा।

जल, थल और वायु प्रकृति की ओर से मानव के लिये अनमोल उपहार हैं। किन्तु पश्चिम का औद्योगीकरण इन तीनों दैवी भण्डारों की लूट-खसोट करता जा रहा है।

स्थल

वैज्ञानिक अब यह अनुभव करने लगे हैं कि रासायनिक कीटनाशकों के अन्धाधुन्ध उपयोग से प्रकृति में जीवन का सन्तुलन बिगड़ गया है। रासायनिक तथा कृत्रिम पदार्थों के उपयोग ने पशुओं तथा पादपों के जीवन के लिये अत्यावश्यक आक्सीजन तथा नाइट्रोजन के पुनरुत्पादन की सहज प्रक्रिया को दोषपूर्ण और अनिश्चित बनाकर रख दिया है। लम्बे समय तक कृत्रिम उर्वरकों के अत्यधिक उपयोग ने उर्वरा भूमि को बाँझ बना दिया है। अत्यधिक सिंचाई से भूमि खारी हो गयी है। वनों को लगातार काटने से यद्यपि तत्काल कुछ सुविधा मिली है, पर दूरगामी प्रभाव के रूप में उसने बड़े पैमाने पर रेतीले टीलों वाले मरुस्थल और भू-क्षरण को न्यौता दिया है।

जल-प्रदूषण

जल के साथ भी छेड़खानी की गयी है। पड़ोस के देश जापान की नदियों और तटवर्ती समुद्र में कल-कारखानों के उत्सर्जित पदार्थ विपत्तिजनक परिमाण में समा गये हैं। साइबेरिया प्रदेश के शुद्ध जल को रूस के कागज तथा अन्य उद्योगों ने दूषित कर डाला है। राइन नदी का जल इतना दूषित हो चुका है कि सैकड़ों मील तक उसमें मछली या अन्य कोई जन्तु जीवित ही नहीं रह सकता। राइन के मुहाने से दो सौ मील तक उसके जल पर कारखानों के तैलीय प्रस्रावों की छः इंच मोटी तह जमी हुई है। अमरीका में ऐसी नदी या झील को पाना असम्भव-सा है जिसका जल कारखानों से फेंके गये पदार्थों अथवा ऐसे ठोस कचरे से दूषित न हुआ हो, यथा—कागज, टीन के डिब्बे, गत्ते के डिब्बे तथा अन्य कूड़ा-कचरा। अमरीका की नदियों में प्रतिदिन कम से कम २००० मीट्रिक टन ठोस कचरा बहाया जाता है।

कारखानों का कचरा

औद्योगीकरण ने कारखानों के कूड़े-कचरे की विकराल समस्या को जन्म दिया है, यथा—त्यक्त खाते में फेंके गये स्वचालित वाहनों के ढाँचे, लाखों टन लोहे की छीलन, काँच की बोतलें, टीन के डिब्बे आदि। इस समस्या के समाधान के लिये अनेक उपाय किये गये हैं, यथा—स्रोत पर भस्मीकरण, रूपान्तरण और पुनश्चक्रण आदि, पर वे पर्याप्त सिद्ध नहीं हुए हैं।

वायु-प्रदूषण

वायु-प्रदूषण की समस्या और भी विकट और विकराल है। औद्योगिक केन्द्रों के आस-पास की वायु में दो हजार से भी अधिक विजातीय रासायनिक द्रव्य पाये

गये हैं। समूचा वातावरण ऐसे ठोस पदार्थ-कणों से भरा पड़ा है, जैसे--सीसा, कालिख, राख, रबड़ के कण, एस्बस्टस, गैसें—यथा कार्बन मोनोक्साइड और डायोक्साइड, सल्फर डायोक्साइड और विभिन्न प्रकार की नाइट्रोजन ऑक्साइड। ये सभी मानव के स्वास्थ्य के लिये हानिकर हैं। इनके कारण लोग दमे, ब्रौंकाइटिस, फेफड़े के कैंसर और वात कोप के शिकार हो जाते हैं।

औद्योगिक केन्द्रों की वायु में टनों की मात्रा में ऐसे प्रदूषक भरे पड़े हैं। इनका न केवल पादप तथा पशु जीवन पर दुष्प्रभाव पड़ता है, अपितु वे भवनों, यन्त्रों और सड़कों का भी क्षरण करते हैं। मोटर के रसिया पश्चिम के लिये कोहरा और धुआँ भयानक समस्या बनते जा रहे हैं। जापान बड़ी सतर्कता से पश्चिम का अनुकरण कर रहा है, पर वह भी औद्योगीकरण के कुप्रभाव से अछूता नहीं रह सका है। टोकियो के कतिपय भागों में लोगों को वायु-प्रदूषण से बचने के लिये वायु-छन्नक मुखावरण (गैस-मास्क) पहनने पड़ते हैं।

पर्यावरण : अन्तरराष्ट्रीय समस्या

वास्तव में श्री मौरिस स्ट्रांग ने, जिन्हें अगले वर्ष स्टाकहोम में मानवीय पर्यावरण सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के आयोजन का भार सौंपा गया है, कहा है कि पर्यावरण का सम्बन्ध केवल समृद्ध देशों की समस्याओं से ही नहीं है। उनके अनुसार, "पर्यावरण विकासशील अथवा अपेक्षाकृत निर्धन देशों के लिये भी उतनी ही चिन्ता का विषय है। यह समूचे विश्व की मानव-समस्या है।"

क्या हम भी उसी भूल को दुहरायें ? पहले भूल करें और फिर उसे सुधारते रहें ? दिन दूनी रात चौगुनी भौतिक समृद्धि के उतावलेपन में पश्चिमवासियों ने परिस्थिति-विज्ञान को ताक में रख दिया। उनमें से जो कुछ बुद्धिमान हैं, अब आराम से इस चूक पर आँसू बहा रहे हैं। क्या हम भी 'प्रगतिवाद' के नाम पर उसी प्रकार परिस्थिति की माँग को भूल जायें ? यह प्रश्न इस दृष्टि से और भी संगत हो जाता है कि माता रूपी प्रकृति के विदोहन की समस्या के प्रति हिन्दुओं का अपना निराला दृष्टिकोण है।

इसे पश्चिम के अन्धानुकरण के बारे में चेतावनी समझा जाना चाहिए।

उपाय

औद्योगीकरण के वर्तमान चरण में भी एक विधान बनाया जाये। उसमें ऐसे उपायों की व्यवस्था हो जिनसे जल और वायु के प्रदूषण को रोका जा सके, इस बात को आँका जा सके कि विभिन्न औद्योगिक नगरों में वायु का और बड़ी-बड़ी नदियों में जल का कितना और किस प्रकार का प्रदूषण है तथा ऐसे प्रदूषण के लिये प्रत्येक औद्योगिक प्रतिष्ठान का कितना दायित्व है। उसमें व्यवस्था हो कि

विभिन्न औद्योगिक प्रतिष्ठानों से प्रदूषण के लिये सामाजिक क्षतिपूर्ति किस प्रकार उगाही जाये।

इस प्रसंग में दूसरा ध्यान देने योग्य छानबीन का विषय उपयुक्त प्रौद्योगिकी का है।

सामूहिक उत्पादन-विधियाँ

पश्चिम ने सामूहिक उत्पादन की प्रविधियाँ निकाली हैं और उन्हें वे प्रधानता देते हैं। कम्यूनिज़म तथा पूँजीवाद, दोनों ही इन प्रविधियों का समर्थन करते हैं। उनके आधार पर पूँजी-प्रधान बड़े-बड़े उद्योग खड़े होते हैं। पश्चिम की रणनीति है कि कम से कम लोग अधिक से अधिक उत्पादन करें। क्या यह भारतीय परम्परा, परिस्थिति और आवश्यकता के अनुकूल होगी ?

व्यावहारिक दृष्टि

निश्चय ही इस समस्या के प्रति हमारी दृष्टि व्यावहारिक होनी चाहिए। जो बड़े उद्योग स्थापित हो चुके हैं, उन्हें हम उखाड़कर फेंक तो सकते नहीं। यहाँ तक कि भावी योजनाओं में भी जहाँ कहीं अर्थव्यवस्था की दृष्टि से अनिवार्य होगा सामूहिक उत्पादन की विधा को अपनाना पड़ेगा। नयी आयोजना में यन्त्रीकरण को उसका उचित स्थान तो प्रदान करना ही होगा।

छोटे उद्योगों का औचित्य

पर साथ ही हमें यह भी अनुभव करना होगा कि बड़े पैमाने पर कार्य करने वाले उद्योगों का विस्तार ही औद्योगीकरण का एकमात्र और अनिवार्य रूप नहीं है। केवल 'बड़े पैमाने पर' उत्पादन ही नहीं, अपितु 'विशाल उत्पादन' ऐसा उपाय है जो दोनों हाथों में लड्डू प्रदान करता है—लाभ में उत्तरोत्तर चढ़ाव और लागत-वक्र में उत्तरोत्तर उतार। किन्तु ये प्रविधियाँ आजीविका के अवसर बढ़ाने में सहायक नहीं होतीं, जबकि यही हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सर्वोपरि माँग है। 'यन्त्रीकरण' अनेक रूप धारण कर सकता है। उनमें से कुछ रूप चालू पश्चिमी प्रतिरूप से नितान्त भिन्न हो सकते हैं। "छोटे उद्योगों की स्थापना का भारी औचित्य अब सिद्ध हो गया है। अब प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नया विकास हो गया है, यथा—स्वचालित यन्त्र, कृत्रिम मिश्र धातुएँ, संच (डाई)द्वारा ढलाई, उत्कृष्ट लघु उपकरण और विद्युत् वितरण में नयी उन्नति। इन सब बातों ने छोटे पैमाने के उत्पादन की असुविधाओं और त्रुटियों को कम कर दिया है।"

सन्तुलनहीन योजना

भारी संयन्त्र थोप दिये गये हैं पर शेष अर्थव्यवस्था से उनका कोई नाता नहीं है। पूँजीगत सामग्री के उत्पादन का उपभोज्य सामग्री के उत्पादन से कोई सम्बन्ध

नहीं रखा गया है। औद्योगिक क्षेत्र का कृषि-क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे समानान्तर चलते हैं। विपूँजीकरण और बेकारी की प्रतिक्रियाएँ प्रारम्भ हो गयी हैं, क्योंकि सात बातों पर विशद रूप से पूरा विचार नहीं किया गया है; ये बातें हैं—जन, धन, सामग्री, यन्त्र, प्रबन्ध, प्रेरक शक्ति तथा मण्डी। विदेशी प्रौद्योगिकी अपना ली गयी है। भारत की परिस्थितियों में वह बेकारी की समस्या को गहन तो करती ही है, साथ ही अप्रयुक्त क्षमता की समस्या भी खड़ी कर देती है। ये सभी बातें औद्योगिक योजना में असन्तुलन का चित्र प्रस्तुत करती हैं। न तो वह उपलब्ध संसाधनों के अधिक से अधिक सदुपयोग में सहायक होती है और न ही राष्ट्र की आकांक्षाओं को पूरा करती है।

भारतीय प्रौद्योगिकी

भावी योजना में यह आवश्यक है कि विशिष्ट भारतीय प्रौद्योगिकी के विकास पर अधिक बल दिया जाये। इससे विद्युत् शक्ति की सहायता से कारखाने के बदले घर को उत्पादन-केन्द्र में परिणत करके उत्पादन-प्रक्रियाओं के विकेन्द्रीकरण में सुविधा होगी। नयी प्रविधियों से उत्पादन के हमारे साधनों का यथासम्भव अधिक से अधिक विपूँजीकरण होना चाहिए। हमारे शिल्पी सरलता से परम्परागत विधियों को छोड़कर नयी प्रविधियाँ सीख सकते हैं। नयी पद्धति के अधीन छोटे उद्योगों के लिये प्राप्य सक्षम प्रबन्ध-कौशल व्यर्थ नहीं जाना चाहिए। छोटे पूँजी-निवेशकों को निवेश के अवसरों से वंचित नहीं किया जाना चाहिए।

आत्म-निर्भरता

नयी प्रौद्योगिकी को अपनाकर हमें पूर्ण आत्म-निर्भर हो जाना चाहिए। हमें यन्त्रों, उनके फालतू अवयवों, पूँजी, यन्त्रविदों, आदि के लिये विदेशों पर तनिक भी निर्भर नहीं रहना चाहिए। जहाँ अनिवार्य हो, वहाँ बड़े उद्योगों की स्थापना करनी होगी, किन्तु प्राथमिकता उत्पादन की ऐसी विकेन्द्रीकृत प्रक्रियाओं को दी जानी चाहिए। वे भारत के नगरों और गाँवों के बीच के अन्तर को पाट सकेंगी। वे कृषि और उद्योग के बीच और अधिक समन्वय कर सकेंगी। वे बड़े और छोटे उद्योगों को एक-दूसरे का पूरक बना सकेंगी।

प्रौद्योगिकीविदों के कर्तव्य

इस प्रयोजन के लिये हमारे प्रौद्योगिकीविदों को सम्यक् अध्ययन करके विश्व भर से प्रौद्योगिकी को आत्मसात् करना चाहिए। उन्हें विदेशी प्रौद्योगिकी के ऐसे अंशों का पता चलाकर लागू करना चाहिए जो भारत की परिस्थितियों के अनुकूल हों। उन्हें कारीगरों के लिये उत्पादन की परम्परागत प्रविधियों में उचित रूप से ग्रहण करने योग्य परिवर्तन करने चाहिए। उन्हें यह देखना होगा कि उसमें कोई

संकट तो छिपा नहीं है। उससे बेकारी तो नहीं बढ़ेगी, उपलब्ध प्राविधिक तथा प्रबन्धकीय दक्षता व्यर्थ तो नहीं जायेगी और उत्पादन के वर्तमान साधनों का पूर्ण विपूंजीकरण तो नहीं हो जायेगा।

मध्यवर्ती प्रौद्योगिकी

इस सम्बन्ध में मुख्य बाधा हमारे नेताओं की मानसिक दासता है। उन्हें ऐसी प्रौद्योगिकी भाती ही नहीं जिस पर आयात का ठप्पा न लगा हो। यही कारण है कि डॉ० शूमैकर द्वारा प्रतिपादित मध्यवर्ती प्रौद्योगिकी के विचार की ओर भी समुचित गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया गया। यह ऐसी प्रौद्योगिकी थी कि पूंजी की कमी और व्यापक बेकारी के आर्थिक तथ्यों के होते हुए भी उपलब्ध पूंजी और श्रम का अधिक से अधिक सदुपयोग हो सके। यह ऐसी प्रौद्योगिकी थी कि औद्योगिक निवेश के प्रत्येक रुपये की नियोजन-क्षमता तो सौगुना बढ़ जाये, पर प्रति एकक उत्पादन लागत एक पाई-भर भी न बढ़े। ऐसी प्रौद्योगिकी की वकालत ब्रिटिश अर्थशास्त्री ने की थी।

उनके अनुसार मध्यवर्ती प्रौद्योगिकी ऐसी होनी चाहिए कि जहाँ सेवायोजन में बढ़ोत्तरी हो, वहाँ औद्योगिक दक्षता में भी वृद्धि हो। इस प्रयोजन के लिये समस्या के कतिपय पक्षों के बारे में अनुसन्धान आवश्यक है। उदाहरण के लिये, कितने उद्यमों में सम्भव होगा कि संयन्त्रों का आकार तो घट जाये पर उनकी दक्षता में कमी न आने पाये? ऐसी प्रौद्योगिकी के बल पर कहाँ तक व्यवहार्य होगा कि गाँव छोड़कर नगर जाने वालों की संख्या घट जाये? इस आधार पर क्या यह सम्भव होगा कि छोटे नगरों तथा ग्रामों में नये उद्योग स्थापित किये जायें और उसके लिये स्थानीय पूंजी, स्थानीय श्रम, स्थानीय कच्चे माल, स्थानीय प्रबन्ध-कौशल और स्थानीय उद्यम-प्रतिभा का सदुपयोग किया जाये? क्या सुदक्ष विपणन संगठन, समुचित तन्त्र (इन्फ्रा स्ट्रक्चर) की व्यवस्था तथा स्वदेशी भावना के पुनरुत्थान का पुट देकर ऐसे उद्योगों को आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है? क्या ऐसी नयी स्थानिक आयोजना व्यावहारिक तथा वांछनीय है?

यह वांछनीय है कि पहले कुछ विशेष उद्योगों को, यथा—चमड़ा, चीनी मिट्टी आदि उद्योगों को इस प्रयोजन के लिये छाँट लिया जाये और फिर यह आँका जाये कि उनके भविष्य पर मध्यवर्ती प्रौद्योगिकी का क्या प्रभाव पड़ सकता है। यह अध्ययन ऐसी विशिष्ट स्वदेशी प्रौद्योगिकी के विकास हेतु नये आयाम खोल सकता है, नयी प्रेरणा दे सकता है और मार्ग प्रशस्त कर सकता है जो हमारी अर्थव्यवस्था की विशिष्ट प्रकृति के अनुरूप हो। पर यह सच है कि प्रति श्रमिक नियोजन में पूंजी की मात्रा उत्पादन की सभी शाखाओं में एक सी नहीं हो सकती और एक ही उद्योग के भीतर भी कोई अकेली प्रौद्योगिकी किसी अकेले पूंजी-श्रम अनुपात की

दृष्टि से लाभकर सिद्ध नहीं हो सकती। हो सकता है कि प्रौद्योगिकी के विभिन्न स्तर साथ-साथ चलें। किन्तु बल भारतीय प्रौद्योगिकी के विकास और उत्तरोत्तर सदुपयोग पर ही दिया जाना चाहिए। उद्देश्य यह होना चाहिए कि सेवायोजन भी बढ़े और आय का स्तर भी।

गाजियाबाद का प्रयोग

इस प्रसंग में एक अनोखा प्रयोग उल्लेखनीय है। इसे 'मैसर्स गर्ग एसोशिएट प्राइवेट लिमिटेड', गाजियाबाद (उ० प्र०) कर रहे हैं। उनका प्रयास है कि वे केवल ऐसे विशेष तार तथा केबिल का निर्माण करें जो भारत में किसी अन्य स्रोत से उपलब्ध नहीं है। उनके उत्पाद उन्नत इलैक्ट्रानिक साज-सामान, विमान, परमाणु ऊर्जा और राकेट छोड़ने में काम में लाये जाते हैं। अपेक्षित अधिकांश यन्त्रों (मशीनरी) का उत्पादन वे स्वयं कर रहे हैं। यदि ये यन्त्र बाहर से मँगाये जाते तो इनके देश में ही प्रारूप तैयार करने (डिजाइन) और निर्माण पर जितनी लागत आयी है, उससे ५ से लेकर २० गुना लागत विदेशी मुद्रा के रूप में लगती।

हमारे औद्योगिक विकास के इस चरण में आयातित यन्त्रों की पूरी क्षमता का उपयोग नहीं किया जा सकता। न ही भारतीय उपयोगकर्ताओं की वर्तमान छोटी-छोटी विशिष्ट आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए ऐसे यन्त्रों के स्वचालित होने की विशेषता का हमारे लिये कोई मूल्य है। आज हमें लचीलेपन और सर्वतो-मुखी प्रतिभा की आवश्यकता है। ये दोनों उद्देश्य उक्त संस्था ने प्राप्त कर लिये हैं। इसके लिये उन्होंने प्रारूप (डिजाइन) देश में ही तैयार किया और अभियान्त्रिकी के योग्य तथा प्रशिक्षित स्नातकों को काम पर लगाया।

छोटे स्तर पर बड़े आयातित यन्त्रों के प्रयोग का अर्थ होगा और अधिक अपव्यय। कभी-कभी यह अधिक अपव्यय बाहर से मँगाये गये महँगे कच्चे माल का होता है। इस स्वदेशी पद्धति के अधीन यह औद्योगिक अपव्यय बहुत कम होता है।

जैसाकि पहले बताया जा चुका है, अमरीका में औद्योगिक अवशेष तथा महँगे कच्चे माल के कूड़े-कचरे के अम्बार लग गये हैं। उन्हें ऐसी सामग्री के सदुपयोग की कोई आशा नहीं दीख पड़ती, क्योंकि उसके उद्धार के लिये उन्हें महँगे शारीरिक श्रम की आवश्यकता पड़ेगी। ऐसी क्षेप्य सामग्री (रद्दी माल) बड़े काम की होती है, उसका मूल्य उसके भीतर छिपा रहता है। इसे भारत में लाया जा सकता है और उचित विधायन के बाद उसमें से अच्छा अंश अलग किया जा सकता है। उसका या तो बाहर निर्यात किया जा सकता है या भारत में उपयोग किया जा सकता है। अधिकांशत: ऐसी क्षेप्य सामग्री अमरीका में मुफ्त उपलब्ध है। उस पर विदेशी मुद्रा भी नष्ट नहीं होती। गाजियाबाद की संस्था ने दो ऐसी परियोजनाएँ हाथ में ली हैं। उनमें से एक इस समय चालू है। इसमें शारीरिक श्रम के लिये

अमरीकी प्रति पौण्ड छाँटे गये माल के लिये २·२५ डालर की दर से भुगतान करेंगे। इसका अर्थ होगा कि इस काम में लगा डिप्लोमाधारी दुर्लभ विदेशी मुद्रा के रूप में लगभग ५० रुपये प्रतिदिन अर्जित करेगा।

सांस्कृतिक पक्ष

स्वदेशी प्रौद्योगिकी का विकास न केवल आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, अपितु हमारी संस्कृति का अस्तित्व और विकास भी इस समस्या से अभिन्न रूप से जुड़ा है। कोई संस्कृति निराधार शून्य में नहीं पनप सकती। उसका सन्दर्भ वर्तमान आर्थिक, सामाजिक संरचना में होता है और यह संरचना बहुत कुछ उत्पादन की प्रविधियों से प्रभावित होती है। विदेशी प्रौद्योगिकी कभी अकेली नहीं आती। अपने साथ वह अपने देश के सांस्कृतिक प्रतिरूप भी लाती है। पश्चिम से ग्रहण की गयी सामूहिक उत्पादन की प्रविधियों के प्रसंग में हमने ऐसा ही पाया है।

इन प्रविधियों के कारण पूँजी और श्रम-शक्ति का संकेन्द्रण नगर-क्षेत्रों में हो गया है, जिसके फलस्वरूप परम्परागत संयुक्त परिवार पद्धति और स्वशासी ग्राम-जीवन डाँवाडोल हो गया है। तीव्र नगरीकरण ने जो समस्याएँ उत्पन्न की हैं, वे न केवल सांस्कृतिक हैं, अपितु सामाजिक तथा आर्थिक भी हैं।

अतीत में भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का परिरक्षण और संवर्धन हो सका था, क्योंकि उस समय पारिवारिक वातावरण का परिरक्षण और संवर्धन आनुवंशिक परिवार, औद्योगिक अथवा व्यावसायिक परिवार और क्षेत्रीय परिवार के तीन विभिन्न स्तरों पर होता था।

तीव्र नगरीकरण

एक बार जब नगरीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है तो ग्रामीण क्षेत्रों के वंश-परम्परा से चले आ रहे परिवार उखड़ जाते हैं और औद्योगिक क्षेत्रों में स्वस्थ पारिवारिक इकाई का संगठन अति दुष्कर कार्य हो जाता है। अतः परिवार के माध्यम से पीढ़ी दर पीढ़ी सामान्यतः जो संस्कार रोपे जा सकते थे, वे अब नये औद्योगिक वातावरण में सम्भव नहीं हैं। पुरानी पद्धति तो टूट चुकी है, पर उसका स्थान लेने वाली किसी नयी पद्धति का जन्म नहीं हुआ है। परम्परागत, व्यावसायिक अथवा औद्योगिक परिवार अपने अस्तित्व का सारतत्त्व गँवा ही चुके हैं।

परम्परागत औद्योगिक परिवार

न तो ग्रामीण और न ही नगरीय क्षेत्रों में आज कोई औद्योगिक अथवा व्यावसायिक परिवार है। किन्तु फिर भी यह सच है कि हमारी संस्कृति का अस्तित्व बहुत कुछ सामाजिक-आर्थिक संरचना पर टिका रहा है और व्यावसायिक अथवा औद्योगिक परिवार उसके अभिन्न अंग रहे हैं। यहाँ भी वही पचड़ा है कि 'जाने

वाला कल तो चला गया, पर आने वाले कल का कहीं पता नहीं।' हमारी क्षेत्रीय इकाइयों का गठन इस प्रकार का था कि उसमें क्षेत्रीय परिवार होते थे और उनमें एक ही क्षेत्र में रहने वाले सभी वंशपरम्परागत परिवार और औद्योगिक अथवा व्यावसायिक परिवार भी सम्मिलित रहते थे। ये तीनों निकाय अपने-अपने स्तर पर स्वशासी होते थे। वंशपरम्परागत संयुक्त परिवार को इस बात की पूरी छूट थी कि वह अपने आन्तरिक प्रशासन के लिये नियमों तथा विनियमों का स्वयं निर्धारण करे। प्रत्येक औद्योगिक परिवार में वे सभी व्यक्ति होते थे जिनका सम्बन्ध किसी वस्तु के उत्पादन, वितरण अथवा विनिमय अथवा सेवा से होता था। आन्तरिक प्रबन्ध में औद्योगिक परिवार को पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त थी। ग्राम अथवा परगना स्तर पर भी पारिवारिक जीवन स्वशासी था।

सच मानिए, इन तीनों निकायों की अपनी अलग-अलग नियमावलि थी, पर वे राष्ट्रीय नियमावलि के ढाँचे के भीतर होती थीं। न ही उनमें आपस में कोई टकराव था। अपने आन्तरिक प्रशासन में प्रत्येक निकाय को पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त थी, किन्तु अपने से उच्चतर निकाय के क्षेत्राधिकार वाले विषयों में वह उच्चतर निकाय की नियमावलि का अनुसरण करता था। भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना इन तीन इकाइयों पर टिकी थी। जहाँ तक हमारा अनुभव है, बृहत् परिमाण पर उत्पादन की प्रौद्योगिकी इन तीनों इकाइयों के अस्तित्व के लिये लाभकारी नहीं है।

नयी प्रविधियाँ आवश्यक

अत: यह आवश्यक है कि पहले तो उत्पादन की नयी प्रविधियाँ खोजी जायें जिनसे उन सामाजिक निकायों को अक्षुण्ण बनाये रखने में सहायता मिले। दूसरे, जिन औद्योगिक क्षेत्रों में बृहत् परिमाण उत्पादन की प्रविधियाँ अपनायी गयी हैं, वहाँ इन निकायों को पुनर्जीवित करने के लिये नये उपाय खोजे जायें।

विशेष रूप से इस ओर ध्यान दिया जाये कि एक ही उद्योग से सम्बन्धित व्यक्तियों का नियोजक और नियोजितों के दो विरोधी शिविरों में विभाजन भारतीय व्यवस्था की परम्परा के अनुरूप नहीं है। इस व्यवस्था को पुन: लाने के लिये यह आवश्यक है कि ऐसे औद्योगिक परिवारों का पुनर्गठन किया जाये जिनमें प्रत्येक उद्योग से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों का समावेश हो। भारतीय व्यवस्था की विशेषता यह है कि वह समाज की ऊर्ध्वगामी व्यवस्था करती है, समानान्तर नहीं।

औद्योगिक परिषदें

नये गठन के अधीन इसे प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि भारतीय सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाये। वे इस प्रकार हैं : श्रम तथा प्रबन्धकीय अथवा

प्राविधिक (टेक्नीकल) कौशल भी पूँजी के अंशदायी रूप हैं। श्रम तथा प्रबन्धकीय अथवा प्राविधिक कौशल का मूल्यांकन अंश (शेयरों) के रूप में किया जाये और इस प्रकार श्रमिकों को तथा प्राविधिक एवं प्रबन्धकीय संवर्गों को उनके अपने-अपने उद्योगों का अंशधारी बनाया जाये। औद्योगिक परिषदें बनायी जायें, जिनमें उद्योग के समूचे प्रबन्ध के लिये श्रमिकों, प्रबन्धकीय एवं प्राविधिक संवर्गों तथा पूँजीपतियों के निर्वाचित प्रतिनिधि हों।

ऐसी औद्योगिक परिषदों को राष्ट्रीय वित्तीय नियमावलि के अधीन रहते हुए इस बात का अन्तिम प्राधिकार होना चाहिए कि वे उद्योगों की सामान्य नीतियों और प्रशासन सम्बन्धी समस्याओं का निर्धारण कर सकें। इनमें उद्योग के भीतर श्रम-शक्ति, प्रबन्धकीय तथा प्राविधिक संवर्ग और पूँजी के नियोजन सम्बन्धी समस्याएँ भी सम्मिलित होंगी। उद्योग के भीतर समूची श्रम-शक्ति, प्रबन्धकीय तथा प्राविधिक कौशल और पूँजी का नियन्त्रण औद्योगिक परिषद् के हाथ में होना चाहिए। उनका परिनियोजन परिषद् न केवल अपने लिये कर सकेगी, अपितु सभी सम्बद्ध विषयों के बारे में, यथा—उत्पादन और सेवानियोजन लक्ष्य, प्रौद्योगिकी के स्तर, उत्पादन आदि की आयात-निर्यात सम्बन्धी नीति, निर्णय लेने और उन्हें कार्यरूप देने के लिये भी कर सकेगी।

प्रत्येक औद्योगिक परिषद् को चाहिए कि वह राष्ट्र द्वारा निर्धारित उद्देश्य और लक्ष्यों के लिये काम करे तथा राष्ट्र द्वारा निर्धारित नियमावलि का अनुसरण करते हुए अन्य उद्योगों की ऐसी ही परिषदों से अपनी गतिविधियों का समन्वय करे। इस प्रयोजन के लिये यह वांछनीय है कि वह समय-समय पर अपने संविधान का पुनरीक्षण करके उसमें समुचित संशोधन करे और उद्योग में काम करने वाली संस्थाओं, इकाइयों, समूहों, व्यक्तियों आदि के आन्तरिक सम्बन्धों का पुनः समंजन करे।

औद्योगिक परिषदों को राष्ट्रीय स्तर पर अंगीकृत आय-वितरण योजना का अनुसरण करना चाहिए। इससे श्रमिकों, प्राविधिक और प्रबन्धकीय कौशल, पूँजी और उपभोक्ता की आवश्यकताएँ पूरी हो सकेंगी तथा विकास और अनुसन्धान सम्बन्धी आवश्यकताओं, योजना-सम्बन्धी प्राथमिकताओं और राज्य को देय भाग की भी पूर्ति हो सकेगी। इस प्रकार गठित औद्योगिक परिषदों का यह सुनिश्चित करने का दायित्व होना चाहिए कि यन्त्रीकरण, वैज्ञानिकीकरण, आधुनिकीकरण अथवा स्वचालन के परिणामस्वरूप किसी श्रमिक की छंटनी तभी हो जब उसके लिये वैकल्पिक सेवायोजन की व्यवस्था हो जाये और उसी उद्योग में उसके सेवा-क्रम में भी कोई व्यवधान न पड़े।

प्रत्येक औद्योगिक परिषद् को प्रत्येक श्रमिक और उसके परिवार के सदस्यों की पूरी देखभाल करनी चाहिए। उसे देखना चाहिए कि उसका स्वाभाविक पूर्ण

विकास हो, उसे कभी आजीविका से हाथ न धोना पड़े । उसे जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं के अभाव में कष्ट न उठाना पड़े । जो भी अपनी दैनिक आजीविका के लिये उद्योग का आसरा ताकते हों, उन सभी को एक बृहत् संयुक्त औद्योगिक परिवार का सदस्य समझा जाना चाहिए। परिवार की सामाजिक सुरक्षा का विस्तार न केवल श्रमिकों तक, अपितु उनके बच्चों, बूढ़ों, पीड़ितों, विधवाओं, शारीरिक तथा मानसिक रूप से विकलांगों तक भी होना चाहिए, क्योंकि वे सब औद्योगिक परिवार के सहज सदस्य हैं ।

औद्योगिक परिवार का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह उद्योग के भीतर अपने सदस्य श्रमिकों के बच्चों को खपाये । बच्चे चाहें तो अपने लिये कोई और धन्धा चुन सकते हैं । इन नियमों पर चलने वाला औद्योगिक परिवार अपने सभी घटक सदस्यों को भौतिक आश्रय प्रदान करेगा। उन्हें इस बात का समुचित अवसर देगा कि वे अपने सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त कर सकें और भरा-पूरा जीवन बिता सकें। देशव्यापी बड़े उद्योगों के लिये ये परिवार और ये परिषदें राष्ट्रीय स्तर की होनी चाहिए। छोटे उद्योगों अथवा उनके व्यापार-समूहों के लिये ये राज्य स्तर की होनी चाहिए। क्षेत्रीय स्तर पर, प्रत्येक औद्योगिक परिवार के सदस्य क्षेत्रीय पारिवारिक इकाइयों के क्षेत्राधिकार में आने वाले विषयों के बारे में क्षेत्रीय इकाइयों की नियमावलि का पालन करेंगे ।

किसका दायित्व ?

अब तक जो कुछ यहाँ कहा गया है, वह केवल संकेत मात्र है, विशद सुझाव नहीं। सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण की रूपरेखा तो विशेषज्ञ प्रयोग और सुधार विधि द्वारा कुछ समय बीत जाने पर ही तैयार कर सकेंगे। किन्तु एक बात ध्रुव सत्य है कि यदि हम पश्चिमी प्रौद्योगिकी और संरचना का अन्धाधुन्ध आरोपण करेंगे तो हम भारतीय राष्ट्रत्व से रहित पश्चिमात्य राज्य का रूप ही धारण कर सकेंगे। आज आवश्यकता है चिन्तन की—स्वतन्त्र और निर्भीक चिन्तन की, मौलिक चिन्तन की, गम्भीर चिन्तन की। इस पीढ़ी के संस्कृति-प्रेमियों को अपने कन्धों पर यह दायित्व लेना होगा। हमारे आमूल परिवर्तनवादी छैला तो बौद्धिक जड़ता और पश्चिमी ढंग के रूढ़िवाद से ग्रस्त और त्रस्त हैं ।

(अप्रैल, १९७१)

राष्ट्रीय सामाजिक नीति

हर प्राणी जीना चाहता है। फिर भी भारत में सूचित आत्म-हत्याओं के सरकारी आँकड़े चौंकाने वाले हैं। सूचना के अनुसार १६६८ के वर्ष में देश में ४०,६८८ लोगों ने आत्म-हत्या की। १६६७ में यह संख्या ३८,३८६ बतायी गयी थी। पुलिस अनुसन्धान एवं विकास ब्यूरो ने जो नवीनतम प्रतिवेदन प्रकाशित किया है, उसके अनुसार इनमें ६ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

आत्म-हत्या

गत पाँच वर्षों में आत्म-हत्या की घटनाओं में तो २१ प्रतिशत की वृद्धि हुई, पर जनसंख्या में १०·२ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इससे पता चलता है कि आत्म-हत्या की वृद्धि दर जनसंख्या की वृद्धि दर से लगभग दुगुनी है।

आत्म-हत्या के उपाय भी कोई आकर्षक नहीं थे। अधिकांश लोगों ने डूबकर, फाँसी लगाकर और विष खाकर आत्म-हत्या की। आत्म-हत्या की कुल घटनाओं में से लगभग २३·७ प्रतिशत डूबकर, १६·२ प्रतिशत फाँसी लगाकर और २०·२ प्रतिशत विष खाकर मरे। कुछ अन्य उपाय भी जाने-पहचाने हैं, यथा—आग लगा लेना, आग्नेयास्त्र का उपयोग या रेलगाड़ी के सामने कूद पड़ना।

ब्यूरो के अनुसार आत्म-हत्या का प्रमुख कारण था भयानक रोगों से उत्पन्न निराशा। कुल में से १७·४ प्रतिशत मृत्यु इस कारण हुई। पति अथवा सास-ससुर से झगड़े के कारण १४·४ प्रतिशत मृत्यु हुई। आत्म-हत्या की शेष ६८ प्रतिशत मृत्यु किस कारण हुई, इसका कोई लेखा-जोखा नहीं दिया गया। किन्तु कुछ अन्य कारण भी हो सकते हैं, जो सर्वविदित हैं, यथा—परीक्षा अथवा प्रेम में असफलता, निर्धनता, पारिवारिक सम्बन्धों में तनाव, घोर मानसिक संघर्ष।

मानसिक विकृतियाँ

सामान्य धारणा है कि निराशाजनक स्थिति बहिर्मुखी व्यक्ति को तो आत्म-हत्या के लिये प्रेरित करती है, पर अन्तर्मुखी पर वह भिन्न प्रभाव डालती है। अन्तर्मुखी व्यक्ति मनस्ताप या उन्माद (पागलपन) का शिकार होता है। मनस्ताप के बारे में तो कोई आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, पर उन्माद के बारे में समय-समय पर

कुछ आँकड़े प्रकाशित होते रहते हैं। किन्तु वे पूरी जानकारी नहीं देते। भारतीय विक्षिप्तता अधिनियम, १६१८ पुराना पड़ गया है। उसकी प्रक्रिया प्रचलन-योग्य नहीं रही। जैसा कि महाराष्ट्र उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री एस० पी० कोतवाल ने कहा है, " जहाँ यह सुनिश्चित करने के लिये पर्याप्त रक्षोपाय होने ही चाहिए कि षड्यन्त्र करके स्वस्थचित्त व्यक्तियों को पागलखानों में भर्ती न करा दिया जाये, वहीं यह भी प्रकट बात है कि प्रक्रिया इतनी पुरातन न पड़ जाये कि समूचे प्रयोजन को ही विफल कर दे।" न्यायाधीश कोतवाल ने सुझाव दिया है कि मानसिक दुर्बलता की कतिपय श्रेणियों की सुनवाई के लिये पृथक् न्यायालय होने चाहिए। इन न्यायालयों में जो व्यक्ति अध्यक्षता करे, उसे ऐसे रोगों के निदान और उपचार का प्रशिक्षण प्राप्त हो; वह कोरा विधिवेत्ता न हो।

सरकारी सूचनाओं के अनुसार देश में लगभग ५० लाख व्यक्ति मानसिक रोगों से ग्रस्त हैं। कहा जाता है कि इस दयनीय दशा के प्रमुख कारण निर्धनता, निराशा और आधुनिक युग के तनाव हैं। कारण जो भी हों, तथ्य यह है कि १० लाख मानसिक रोगियों के उपचार के लिये पाँच हजार मनोरोग-चिकित्सक होने चाहिए। पचास लाख के लिये हमें २५ हजार ऐसे चिकित्सक चाहिए। अभी (१६७२ में) हमारे पास केवल २०० मनोरोग-चिकित्सक और ३० से भी कम मनोरोग-विश्लेषक हैं।

सामाजिक उपचार

इससे पता चलता है कि हम समस्या को सुलझाने में असमर्थ तो हैं ही, इस स्थिति में भी नहीं हैं कि इस समस्या की विशालता को ठीक-ठीक नाप सकें। इन मानसिक रोगों के कारण केवल आर्थिक नहीं हैं। जहाँ यह सच है कि सभी को लाभप्रद आजीविका देने से इन समस्याओं की तीक्ष्णता और व्यापकता को हरने में पर्याप्त सहायता मिलेगी, वहाँ इस बात को भी नकारा नहीं जा सकता कि इन समस्याओं पर मुख्य रूप से सामाजिक स्तर पर चोट करनी होगी। केवल निर्धनता ही इन बुराइयों की सहेली नहीं होती। इस प्रसंग में अमरीका का उदाहरण उल्लेखनीय है। उस देश में सम्पन्नता और मानसिक रोग बहुधा एक-दूसरे का आलिंगन करते हुए देखे गये हैं। वहाँ अमरीकी स्तर के अनुसार निर्धन कहे जाने वाले ढाई करोड़ लोगों की तुलना में मनोरोगों का प्रकोप अपेक्षाकृत धनी वर्गों में अधिक है। अमरीका में कुल जनसंख्या के लगभग ६ प्रतिशत लोग स्नायु-रोगों और मानसिक रोगों से ग्रस्त हैं। यह तथ्य इस बात को उजागर करता है कि हमारे देश में भी इस समस्या का सामाजिक उपचार होना चाहिए।

बाल-अपराध

हम अभी तक बाल-अपराध की समस्या की थाह नहीं ले सके हैं, जबकि १६१६ में ही हमारा ध्यान इसकी ओर चला गया था। तब भारतीय कारागार समिति ने इस बात पर बल दिया था कि बाल-अपराधियों का अलग उपचार होना चाहिए। हमारे यहाँ विभिन्न बाल-अधिनियम हैं, किशोरों के लिये न्यायालय हैं, केन्द्रीय बाल-अधिनियम, १६६० के अधीन स्थापित बाल-कल्याण मण्डलों का अतिरिक्त न्यायिक अभिकरण है, सुधारालय हैं, प्रमाणित / अनुमोदित पाठशालाएँ हैं, अन्य सुधार-संस्थाएँ हैं, रोगोत्तर देखभाल की सेवाएँ आदि हैं। इन सबके उपरान्त तथ्य यह है कि अब तक जो वैधानिक तथा संस्थागत ढाँचा तैयार किया गया है, वह लचर और अपर्याप्त है। सुधारात्मक विधानों में निवारक सेवाएँ चालू करने का कोई वैधानिक उपबन्ध नहीं है। अभी तक परामर्श-सेवाओं का गठन नहीं किया गया है। विभिन्न राज्यों के सम्बद्ध विधानों में कोई एकरूपता नहीं है। विभिन्न राज्यों में इस प्रयोजन के लिये जो उपाय अपनाये गये हैं और संस्थाएँ खड़ी की गयी हैं, उनमें भी समन्वय और एकरूपता का अभाव है।

हाल ही में देश की अपराध-वृद्धि में किशोरों की भागीदारी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। १६६८ में कुल जितने हस्तक्षेप्य अपराध हुए, उनमें २·५ प्रतिशत भाग किशोरों का था। एक लाख की जनसंख्या में ४ प्रतिशत अपराध उन्होंने किये थे। उन्होंने पशुओं की चोरी की, सामान्य चोरियाँ कीं, घरों में सेंध लगायीं, सार्वजनिक उपद्रव किये, दंगे किये तथा हत्याएँ कीं। वैसे तो पिछले वर्षों में भी प्रतिवर्ष लगभग तीन सौ हत्याएँ किशोरों के खाते में डाली जाती थीं, पर अब उग्रवाद को पूजे जाने के कारण यह संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। १६६६ में किशोरों ने कुल मिलाकर २१,७०३ हस्तक्षेप्य अपराध किये। इनमें ३२१ हत्या के, १८५ अपहरण के और ६६ डकैती के काण्ड थे।

अपराध और अपराधी

सामान्य रूप से भी भारत में अपराध-वृद्धि की दर जनसंख्या-वृद्धि की दर को तीव्रता से पीछे छोड़ रही है। जहाँ १६६० और १६६६ के बीच जनसंख्या में २४·३ प्रतिशत वृद्धि हुई, वहाँ अपराध का पारा ३६·४ प्रतिशत तक चढ़ गया। १६६६ में समूचे देश में एक लाख की जनसंख्या में २·७ की हत्या हुई। पुलिस अनुसन्धान एवं विकास ब्यूरो के प्रतिवेदन में १६६६ में किये गये विभिन्न प्रकार के अपराधों का विवरण और प्रतिशत दिया गया है। फिर भी अपराध-विज्ञान और समाज-विज्ञान के बारे में नये सिरे से यथार्थवादी चिन्तन नहीं किया गया है। हमारी न्यायपालिका की ओर से अपराध के प्रति समाजशास्त्रसम्मत वैधानिक दृष्टिकोण अपनाने का प्रयत्न नहीं हुआ है, दण्ड देने की बनी-बनायी परिपाटी के

स्थान पर सुधार के उपाय नहीं किये गये हैं, अपराध और अपराधियों से सम्बन्धित विभिन्न सरकारी तथा गैर-सरकारी अभिकरणों के बीच कोई तालमेल नहीं है। इस दिशा में अनुसन्धान और पुनर्विचार की प्रत्यक्ष सम्भावना और आवश्यकता है। इस तथ्य को विशेष रूप से ध्यान में रखना होगा कि औसत से, हमारे देश में ८० प्रतिशत अपराधी अल्प अवधि का कारावास भोगते हैं। उनमें से ३० प्रतिशत तो एक मास से भी कम का कारावास भोगते हैं। वैज्ञानिक आधार पर इस बात का अनुमान नहीं लगाया गया है कि औद्योगीकरण की भारी चक्की में परम्परागत सामाजिक निकायों के पिसने से कितनी मनोवैज्ञानिक क्षति हुई है। पश्चिम में इस क्षेत्र में जो विभिन्न प्रयोग किये गये हैं, उनका अनुभव हमारे देश में अपराध और अपराधी की समस्या को सुलझाने के काम में नहीं लाया गया है।

यौन शिक्षा

यौन शिक्षा और पारिवारिक जीवन सम्बन्धी शिक्षा की भी उपेक्षा की गयी है। इसके कारण युवा पीढ़ी बड़ी ही उच्छृंखल होती जा रही है। यौन शिक्षा के अभाव और काम-सम्बन्धी गलत धारणाओं एवं प्रवृत्तियों से उत्पन्न समस्याओं के झंझावात ने समाज की जड़ों को हिलाकर रख दिया है।

जन-स्वास्थ्य

जन-स्वास्थ्य की समस्या को भी योजनाकार और सरकार गम्भीरता से नहीं ले रहे हैं। योजना के निर्माण में चिकित्सा-व्यवसाय के प्रतिनिधियों का कभी सहयोग नहीं लिया गया। स्वास्थ्य-प्रयोजनों को पूरा करने के लिये पर्याप्त धन-राशि नहीं दी जाती। योजना आयोग, भारत सरकार और विशेषकर राज्य सरकारों ने स्वास्थ्य के विषय को बड़ी ही निम्न प्राथमिकता दी है। इस प्रयोजन के लिये जो राशि आबंटित की गयी, उसका भी समुचित सदुपयोग नहीं किया जा सका क्योंकि स्वास्थ्य-सेवाओं का प्रशासनिक गठन ही घटिया था। जन-स्वास्थ्य अभियान्त्रिकी विभाग सुगठित नहीं किया गया है। वह पर्याप्त और पूर्ण विस्तार वाला नहीं है। अनेक सामुदायिक खण्डों में समुचित प्राथमिक स्वास्थ्य-केन्द्र हैं ही नहीं।

इण्डियन मेडिकल एसोशिएशन ने सुझाव दिया है कि भेषज उत्पादन की वस्तुओं का वैज्ञानिक आधार पर विनियमन किया जाये। इसके लिये देश में फैले रोगों के निवारण हेतु आवश्यकता को ध्यान में रक्खा जाये। किन्तु अभी तक यह अरण्यरोदन ही सिद्ध हुआ है। इस संगठन ने ग्राम चिकित्सा सहायता अथवा ग्राम जल प्रदाय सम्बन्धी व्यय के बारे में जो सुझाव दिये थे, उनकी भी ऐसी ही दुर्गति हुई है। व्यवसाय-जन्य रोगों की अनुसूची पर पुनर्विचार की आवश्यकता को भी

सरकार ने स्वीकार नहीं किया है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक समिति का निष्कर्ष है कि सभी प्रकार के मानवीय कैंसर में से लगभग तीन-चौथाई पर्यावरण सम्बन्धी कारणों से उपजते हैं। इनमें हानिकर रसायन भी सम्मिलित हैं। प्रौद्योगिक रसायन शास्त्र के विकास की द्रुत गति को देखते हुए तुरन्त ही इस बात को आँका जाना चाहिए कि उन हानिकर रसायनों की संख्या कितनी है और उनसे कितनी हानि होती है ? इस पक्ष की पूर्ण उपेक्षा की गयी है। श्री वाराह वेंकट गिरि ने कहा है कि एक ऐसी समेकित भेषज-पद्धति का विकास होना चाहिए जो जनता-जनार्दन के निर्वाह-स्तर से सम्बद्ध हो। पर किसी के कान पर जूं तक नहीं रेंगी।

उदासीनता

जन-स्वास्थ्य के प्रति अधिकारी कितने उदासीन हैं, इसका अनुमान जन-साधारण के अज्ञान से लगाया जा सकता है। उन्हें पता ही नहीं कि कतिपय भयानक रोगों का कितना भयानक प्रकोप है। उदाहरण के लिये, भारत में लगभग दो करोड़ लोग यौन रोगों से पीड़ित हैं, फिर भी चलते-फिरते तथा अन्य प्रकार के औषधालयों की संख्या पर्याप्त नहीं है। उन्नीस वर्ष तक के किशोरों में यौन रोगों का प्रकोप विशेष रूप से चिन्ताजनक है। लगभग २५ लाख कुष्ठ-रोगी भी समाज की उपेक्षा के शिकार हैं। उनमें से २० प्रतिशत से भी कम की देखभाल १५०० से भी कम केन्द्रों में हो रही है। राष्ट्र को इस घोर उपेक्षा का भारी मूल्य चुकाना पड़ेगा।

सामाजिक तथा आर्थिक, दोनों ही

यह सच है कि बहुधा सामाजिक क्षेत्र और आर्थिक क्षेत्र के बीच लक्ष्मण-रेखा खींचना कठिन होता है। विभिन्न सामाजिक बुराइयाँ आर्थिक कारणों से उत्पन्न होती हैं। बेकारी, गरीबी, घटिया जीवन-स्तर, कुपोषण, अल्पपोषण और महँगाई से अनेक अपराधों, स्त्रियों के अनैतिक व्यापार, सामान्य नैतिक ह्रास; भिक्षावृत्ति, विकृति, हिंसा तथा अन्य सामाजिक दुर्गुणों का जन्म होता है। किन्तु यह भी सच है कि आर्थिक और औद्योगिक बुराइयाँ अनेक कारणों से भड़कती हैं, यथा—नगरीकरण की अति से पारिवारिक ढाँचे का चरमरा जाना, औद्योगिक क्षेत्रों में स्वस्थ सामुदायिक जीवन का अभाव, गाँव छोड़कर नगरों में जा बसने वालों के स्वत्व का अपहरण। नगरों में जा बसने वाले ग्रामीण जनों के सामाजिक और नैतिक मूल्य अपने सहज सामाजिक परिवेश से मानसिक रूप से उखड़ जाने के कारण नष्ट हो जाते हैं। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव के कारण परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों का लोप तो हो रहा है, किन्तु साथ-साथ इनके स्थान पर नये मूल्य नहीं पनप रहे हैं।

जहाँ आर्थिक गतिविधि के प्रतिरूपों में परिवर्तन आने से परिवार, ग्राम या समुदाय जैसे सभी सामाजिक अवयवों पर प्रभाव पड़ा है, वहाँ इन सामाजिक अवयवों के विघटन का भी आर्थिक गतिविधि की दक्षता पर प्रभाव पड़ा है।

कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जो सामाजिक और आर्थिक के बीच वर्गीकरण के सभी प्रयासों पर पानी फेर देती हैं, यथा—जनसंख्या-विस्फोट। जहाँ उसने राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को बुरी तरह झिंझोड़कर रख दिया है, वहाँ जनसंख्या की तलछट में समस्याओं के कीटाणु भी अन्धाधुन्ध पनपते हैं। अनेक प्रदेशों में भूमिहीन श्रमिकों की समस्या जितनी आर्थिक है उतनी ही सामाजिक भी है, क्योंकि इस समूह में मुख्यतः अनुसूचित जातियों के श्रमिक होते हैं। क्या यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उनकी आर्थिक असुरक्षा उनकी सामाजिक दुर्बलता का कारण है या परिणाम? हाल ही में बच्चों का एक माँग-पत्र प्रकाशित किया गया है। एक ऐसा विशद बाल-कल्याण कार्यक्रम अत्यावश्यक है जिसमें बच्चों के स्वास्थ्य, पोषण, शिक्षा, और मनोरंजन सम्बन्धी सेवाओं की व्यवस्था हो; जिसमें गाँवों, गन्दी बस्तियों और दुर्बल वर्गों के बच्चों की ओर विशेष ध्यान दिया जाये और मानसिक दुर्बलता से ग्रस्त, अपंग और प्रताड़ित बच्चों के लिये विशेष सेवाओं की व्यवस्था हो। परन्तु क्या वह केवल आर्थिक कार्यक्रम होगा? क्या यह सच नहीं है कि उपर्युक्त सामाजिक दुर्गुण, राष्ट्र की मानवनिधि हमारे बच्चों की वर्तमान दयनीय दशा के लिये उतना ही उत्तरदायी है? भिक्षावृत्ति भी शत-प्रतिशत आर्थिक समस्या नहीं है। कतिपय अवस्थाओं में इसे वंशपरम्परागत व्यवसाय माना जाता है। अनाथों, रोगियों, अपंगों, अशक्तों अथवा वृद्धों के अतिरिक्त ऐसे सैकड़ों हट्टे-कट्टे लोग हैं जो व्यक्तिगत टूटन के बाद भिक्षावृत्ति अपना लेते हैं। और, पेशेवर गुंडे होते हैं। वे बच्चों का अपहरण करके उनका अंग-भंग कर देते हैं तथा उनसे भीख मँगवाते हैं। निर्धनता के साथ-साथ ऐसे सामाजिक कारण होते हैं, यथा—पारिवारिक विघटन, जात-पाँत के कठोर बन्धन और सामाजिक रीति-रिवाज, जो अनेकानेक लड़कियों को अनैतिक धन्धों के लिये विवश कर देते हैं। सामान्यतः अब इस बात को स्वीकार किया जाने लगा है कि जितना बड़ा नगर होगा, उतनी ही बड़ी प्रति व्यक्ति अपराध की दर भी होगी। औद्योगिक क्षेत्रों में रहने के लिये ठीक तथा पर्याप्त व्यवस्था नहीं होती। वहाँ बड़ी-बड़ी गन्दी बस्तियाँ होती हैं, पारिवारिक जीवन बिखर जाता है, औद्योगिक दुर्घटनाएँ होती रहती हैं, स्त्री-पुरुष अनुपात में असन्तुलन रहता है। ये सब कारण वहाँ अपराध-वृद्धि में सहायक होते हैं। इस सम्बन्ध में विचारों के कबूतरखाने बनाना नितान्त अवास्तविक होगा। जितने महत्त्वपूर्ण तथा निर्णायक विशुद्ध आर्थिक कारण हैं, कम से कम उतने ही महत्त्वपूर्ण तथा निर्णायक अनेक सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक कारण भी हैं, यथा—निरक्षरता, धार्मिक तथा शैक्षणिक संस्थाओं का ह्रास, मूल्यों

का पतन, वर्तमान संस्थाओं में समंजन का अभाव, परम्परागत तथा आधुनिक दोनों प्रकार के अन्धविश्वास, जाति तथा समुदाय के पूर्वाग्रह, सभी प्रकार का भ्रष्टाचार, आधुनिक जीवन का घोर व्यक्तिवाद, भौतिक तथा अभौतिक प्रगति का असन्तुलन, व्यवहार के नये प्रतिरूपों से असामंजस्य, आधुनिक जीवन के तनावों को सहन करने की असमर्थता आदि। जहाँ इस बात की आवश्यकता है कि विकास सम्बन्धी योजना के सामाजिक तथा आर्थिक पक्षों को सही ढंग से जोड़ा जाये और आर्थिक कार्यक्रमों को समाजोन्मुखी बनाया जाये, वहाँ अब इस बात की भी और उपेक्षा नहीं की जा सकती कि सामाजिक समस्याओं की तत्काल अलग पहचान की जाये। विकास के सामाजिक साधनों की अलग से पहचान होनी ही चाहिए। यह सोचना गलत होगा कि सामाजिक विकास आर्थिक विकास का मात्र एक अन्तिम उत्पाद है।

सामाजिक उपचार

यह दावा नहीं किया जा सकता कि जुए की लत, शराबखोरी, अफीम, भाँग, चरस, एल. एस. डी. आदि के नशे की लत केवल निम्न आर्थिक स्तर वालों में ही पायी जाती है। अवकाश के क्षणों का दुरुपयोग, घटिया मनोरंजन और आत्मघाती आदतें केवल निर्धनों में ही नहीं पायी जातीं। ये धनी वर्गों में भी पायी जाती हैं। भटकाव, आवारागर्दी, कामचोरी, छोटी-मोटी चोरी, किशोर-विद्रोह, यौन विकृति, भोगवाद, तन्त्रिका-अवसाद, मनोविकृति आदि समस्याओं का रूप इतना आर्थिक नहीं, जितना सामाजिक है।

परिवार समाज की आधारभूत इकाई है। भूतपूर्व उपराष्ट्रपति श्री गोपालस्वरूप पाठक ने ठीक ही कहा है कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में परिवार को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनकी ओर देश के विद्वानों तथा योजनाकारों ने बहुत कम ध्यान दिया है। कृषि, औद्योगीकरण और नगरीय केन्द्रों के विकास की नयी प्रविधियों से परिवार और समुदाय की प्रकृति में व्यापक परिवर्तन आ रहे हैं। औद्योगीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न समस्याएँ औरों की अपेक्षा परिवार में अधिक परिलक्षित हो रही हैं, परिवार में उन्हें अधिक गहराई से अनुभव किया जा रहा है। आधुनिक परिवारों की इसके लिये सहायता की जानी चाहिए कि वे स्वयं को विकासशील समाज के परिवर्तनों और चुनौतियों के अनुरूप ढाल सकें तथा सामाजिक प्रगति के सक्रिय संवर्धकों की भूमिका निभा सकें।

इस प्रकार यद्यपि सदा ही यह सरल नहीं होता कि सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों के बीच सीमा-रेखा खींची जाये, फिर भी ऐसी समस्याओं को खोजने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए जो प्रधानतः सामाजिक हों। उनका समाधान सामाजिक

उपचार द्वारा किया जा सकता है। अनाथों, अपराधियों, निराश्रिता स्त्रियों, परित्यक्ताओं, हिजड़ों, अन्धों, बहरों, गूँगों, भुजहीनों, शारीरिक, मानसिक या सामाजिक रूप से अशक्त लोगों, कुष्ठ रोगियों, यौन रोग-पीड़ितों आदि की समस्याएँ सर्वप्रथम सामाजिक स्वरूप की हैं और उसी स्तर पर हमें उनकी चुनौती का सामना करना है।

सांस्कृतिक पिछड़न

कोई भी सामाजिक समस्या उस समय उत्पन्न होती है जब सामाजिक वास्तविकता और सामाजिक प्रतिमानों में अन्तर होता है। जब सामाजिक समस्याओं के घटाटोप से समाज की सहज गति अवरुद्ध होने लगती है या उसके लिये संकट पैदा हो जाता है तो कहा जाता है कि सामाजिक विघटन प्रारम्भ हो गया है। भौतिक उन्नति और अभौतिक संस्कृति के बीच परिवर्तन दर की विषमता को 'सांस्कृतिक पिछड़न' कहा जाता है। जब किसी व्यक्ति की दैनिक जीवन-चर्या से समरसता का लोप होने लगता है तो यह 'व्यक्तिगत विघटन' की समस्या हो जाती है जिसका चरम लक्षण आत्म-हत्या है। व्यक्तिगत विघटन और सामाजिक विघटन परस्पर जुड़े हुए हैं और एक बड़ी सीमा तक एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

अब अविलम्ब राष्ट्रीय सामाजिक नीति का निर्धारण होना चाहिए। इसके अभाव में विशुद्ध आर्थिक विकास असन्तुलित विकास की छवि प्रस्तुत करेगा। इसका कितना वित्तीय भार सरकार को वहन करना चाहिए, यह विवरण तैयार किया जा सकता है। पर भारतीय परम्परा के अनुसार सदैव यही अपेक्षा की जानी चाहिए कि सामाजिक सेवाओं और समाज-कल्याण सेवाओं का सूत्रपात सामाजिक-सांस्कृतिक नेता करें, स्वैच्छिक प्रयास सरकारी प्रयास से बाजी मार ले जाये।

सामाजिक नीति

जैसाकि समाज विकास परिषद् की श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख ने कहा है, 'सामाजिक नीति' में यह परिकल्पना है कि निवारक, संरक्षणात्मक, संवर्धनात्मक, सुधारात्मक, और पुनर्वासात्मक सेवाओं की परस्पर सम्बद्ध शृंखला हो। स्वास्थ्य, शिक्षा, भवन-निर्माण आदि सामाजिक सेवाएँ हैं। समाज-कल्याण सेवाओं के अन्तर्गत निम्न सेवाएँ आती हैं—(क) जिन्हें आवश्यकता हो उन माताओं तथा बच्चों की देखभाल और पुनर्वास की सेवाएँ, विकलांगों समेत युवकों और वयस्कों के लिये सेवाएँ; (ख) सामाजिक सुरक्षा सेवाएँ, यथा—बेकारी, रुग्णता आदि जैसी आकस्मिकताओं के लिये बीमा और नकद या वस्तु के रूप में सहायता;

(ग) बाढ़, भूचाल, युद्ध आदि जैसी विपदाओं से ग्रस्त लोगों की सहायता और पुनर्वास के लिये आपातसेवाएँ; (घ) समस्त नागरिकों के लिये मनोरंजन की व्यवस्था; (ङ) सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में अपराधियों आदि की देखभाल करने वाली सेवाएँ; और (च) सामाजिक प्रथाओं और पूर्वाग्रहों से त्रस्त लोगों के लिये विशेष सेवाएँ।

सर्वेक्षण

ऐसे नीति-निर्धारण के लिये आवश्यक है कि अशक्तों, विकलांगों, रोगियों, भिखारियों आदि के बारे में राष्ट्रीय सर्वेक्षण कराया जाये। विभिन्न क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन-जातियों, अनधिसूचित जातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के सामाजिक-आर्थिक नमूना सर्वेक्षण किये जायें। एक सम्पूर्ण राष्ट्रीय संसाधन-सर्वेक्षण का कार्य भी यथाशीघ्र पूरा किया जाये।

विशेष लक्षण : अनुसूचित जातियाँ

यह भी आवश्यक है कि हमारी जनसंख्या के इन विभिन्न पददलित वर्गों की दुर्दशा और समस्याओं के विशेष लक्षणों को ध्यान में रक्खा जाये। उदाहरण के लिये, अनुसूचित जातियों की ही ले लें। इनमें से अधिकांश सर्वहारा आर्थिक श्रेणी के 'दरिद्र नारायण' हैं। किन्तु भारत में आर्थिक सम्बन्ध मानव-जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य नहीं है। समूचे मानवीय क्रियाकलाप के पीछे केवल आर्थिक उत्प्रेरणा ही प्रेरक शक्ति नहीं है। जैसाकि बाबा साहब अम्बेडकर ने कहा है, शोषण केवल आर्थिक ही नहीं हो सकता, वह राजनीतिक और सामाजिक-धार्मिक भी होता है। भारत में निजी सम्पत्ति के स्वामियों द्वारा अतिरेक मूल्य का दुरुपयोग ही शोषण का एकमात्र कारण नहीं हो सकता। डॉ० अम्बेडकर ने भारत की सामाजिक, आर्थिक स्थिति से अनभिज्ञ पश्चिम के रंग में रँगे आमूल परिवर्तनवादियों से प्रश्न किया है, "क्या यह कहा जा सकता है कि भारत का निर्धन सर्वहारा व्यक्ति धनी और निर्धन के अतिरिक्त और किसी विभेद को नहीं पहचानता ? क्या यह कहा जा सकता है कि भारत का निर्धन व्यक्ति जाति अथवा धर्म, ऊँच अथवा नीच का कोई विभेद नहीं पहचानता ? यदि वह पहचानता है तो धनवान के विरुद्ध कार्य करने में ऐसे सर्वहारा से किस संयुक्त मोर्चे की आशा की जा सकती है ? यदि सर्वहारा संयुक्त मोर्चा प्रस्तुत नहीं कर सकता तो क्रान्ति कैसे हो सकती है ?" (एनीहिलेशन ऑफ़ कास्ट, पृष्ठ १८) इस दृष्टि से मार्क्सवादी सिद्धान्तों की भारतीय परिस्थितियों से कोई संगति नहीं है। अनुसूचित जातियों की समस्या पर विचार करते समय सामाजिक पक्ष पर अधिक बल देना होगा, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि उनमें से अधिकांश आर्थिक पिछड़ेपन और 'शोषण' से भी त्रस्त हैं।

अनुसूचित जन-जातियाँ

इसके विपरीत, अनुसूचित जन-जातियों के प्रसंग में आर्थिक पक्ष की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए, पर सामाजिक कार्यक्रमों, यथा 'गाठी', 'पालेमोडी' जैसी असामाजिक पद्धतियों के उन्मूलन, के महत्त्व को भी नकारा नहीं जा सकता। यह भी अत्यावश्यक है कि उनकी शिक्षा के स्तर को उठाने के लिये सतत गम्भीर प्रयास किये जायें। न्याय की माँग है कि विशिष्ट क्षेत्रों में अनुसूचित जन-जातियों के लोगों को जो सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, उनका विस्तार उनके लाभार्थ समूचे देश में होना चाहिए। अन्य माँगों के अतिरिक्त तुरन्त ध्यान देने योग्य उनकी कुछ विशेष माँगें इस प्रकार हैं—फालतू भूमि का बँटवारा किया जाये; ऋण से छुटकारे के लिये विधान बनाये जायें; न्यूनतम पारिश्रमिक अधिनियम को संरक्षण प्रदान किया जाये; वन-सेवाओं में प्राथमिकता दी जाये; वन-क्षेत्रों में उनके परम्परागत अधिकारों का परिरक्षण और पुनःस्थापन किया जाये; वन-आधारित उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाये; ठेकेदारों और वन-अधिकारियों की साँठगाँठ से उनकी रक्षा की जाये। उनके लिये जिन सुविधाओं की व्यवस्था की गयी है, वे भी उन्हें समुचित संगठन-तन्त्र के अभाव में नहीं मिल पातीं।

हमारे संविधान के अनुच्छेद ४६ में कहा गया है—"राज्य जनता के दुर्बल वर्गों के, विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों के शिक्षा तथा अर्थ-सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय एवं सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।"

यह देखना हमारा पावन कर्तव्य है कि यह प्रतिज्ञा पूरी हो।

भूतपूर्व 'जरायमपेशा' (अपराधवृत्तिक) जातियाँ

ऐसी भी माँग है कि संविधान में संशोधन करके, अनुसूचित जन-जातियों के लिये जिन संरक्षणों और सुविधाओं की व्यवस्था है, उनका विस्तार सभी अनधिसूचित जातियों अथवा भूतपूर्व 'जरायमपेशा' जातियों तथा समस्त घूमन्तू तथा अर्द्ध-घूमन्तू जातियों पर भी किया जाये।

अन्य वर्ग

आर्थिक वर्गों के नाते, पेंशनभोगियों, भूतपूर्व सैनिकों तथा महिला श्रमिकों और श्रमजीवी गृहिणियों को भी विशेष संरक्षण एवं सहायता दी जानी चाहिए।

निदेशक सिद्धान्त

राष्ट्रीय सामाजिक नीति का निर्धारण करते समय ऐसी सभी वर्गीय आवश्यकताओं, माँगों और असुविधाओं पर समुचित गम्भीरता से भली-भाँति विचार किया जाना चाहिए। इन वर्गीय आवश्यकताओं के अतिरिक्त सामान्य

नीति के रूप में संविधान के निदेशक सिद्धान्तों में व्यवस्था है कि "राज्य अपने आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम करने, शिक्षा पाने तथा बेकारी, बुढ़ापा, रोगग्रस्तता और अंग-हानि एवं अन्य अनर्ह अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार प्राप्त कराने का कार्यसाधक उपबन्ध करेगा," (अनुच्छेद ४१) राज्य काम की न्यायपूर्ण और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिये तथा प्रसूति-सहायता, निर्वाह-वेतन, शिष्ट जीवन-स्तर और अवकाश तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवसरों का सम्पूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने के लिये प्रावधान करेगा, (अनुच्छेद ४२, ४३) राज्य बालकों के लिये निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध करेगा। (अनुच्छेद ४५) राज्य का कर्तव्य होगा कि आहार-पोषण के स्तर और जीवन-स्तर को ऊँचा करे तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार करे। (अनुच्छेद ४७) ये निदेशक सिद्धान्त तथा हमारे संविधान के अनुच्छेद ३८ और ३९ में उल्लिखित सिद्धान्त 'राष्ट्रीय सामाजिक नीति' के लिये आवश्यक पृष्ठभूमि और मार्गदर्शन प्रस्तुत करते हैं।

समग्र योजना

सामाजिक नीति की यह भी अपेक्षा है कि और बातों के अतिरिक्त एक ऐसी विस्तृत शृंखला हो जिसमें मानसिक रोगों के अस्पताल हों, सामान्य अस्पताल हों, विरुजालय हों, क्षय-रोग निवारण गृह (सैनिटोरियम) हों, 'दिन के अस्पताल' हों, बहिरंग मनोरोगियों के तथा मानसिक स्वास्थ्य के विरुजालय (क्लिनिक) हों, सार्वजनिक स्वास्थ्य ढाँचे में विस्तृत चैकित्सिक-सामाजिक परियोजनाएँ हों, सामुदायिक स्वास्थ्य के कार्यक्रम हों; ऐसे अभिकरण हों जो विकलांगों को पर्याप्त मात्रा में सरल उपकरण, कृत्रिम अंग, हाथ और अन्य साधन उपलब्ध करायें; 'द स्कूल फार चिल्ड्रन इन नीड आफ स्पेशल केयर' (बम्बई) जैसी संस्थाएँ हों, 'दिवस देखभाल केन्द्र' हों, बच्चों के लिये मार्गदर्शी विरुजालय हों, वैज्ञानिक परिवार-कल्याण सेवाएँ हों, 'गृह' और 'कर्मशालाएँ' हों; अन्धों, बहरों, गूँगों, विकलांगों, वृद्धों, अशक्तों, रोगियों, बाल-अपराधियों तथा पागलों, अपराधियों, भिखारियों, निराश्रितों आदि के लिये व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र हों; इंग्लैण्ड की भाँति व्यावसायिक केन्द्र तथा बस्ती प्रणाली (कालोनी सिस्टम) हो; पिछड़े तथा पददलित लोगों के लाभार्थ सामाजिक एवं समाज-कल्याण सम्बन्धी सेवाओं के निमित्त प्रशिक्षित व्यक्तियों, विभिन्न जन-कल्याण अभिकरणों तथा सरकारी और गैर-सरकारी संगठनों को लाने-ले जाने के लिये चलते-फिरते वाहन हों।

संस्थानों के ढाँचे को समुचित विधान के आधार की आवश्यकता है, यथा—भिक्षावृत्ति के सम्बन्ध में व्यापक आदर्श केन्द्रीय विधान हो या एक ऐसा अलग विधान हो जिसमें व्यवस्था हो कि विकलांगों को विशेष सुविधाएँ दी जायें; उन्हें

प्रशिक्षण, सेवायोजन और चिकित्सा-सहायता दी जाये; प्रशिक्षण-प्राप्त विकलांगों को कच्चे माल और उपकरणों के रूप में अनुदान-सहायता दी जाये। सेवायोजन के अवसरों में उनका 'कोटा' तय किया जाये और उनके वेतन के लिये सरकारी सहायता प्रदान की जाये। प्रत्येक उपयुक्त उद्योग के लिये अनिवार्य कर दिया जाये कि वह विकलांगों की एक निश्चित अल्पतम संख्या को अपने यहाँ खपाये। ब्रिटेन में विकलांग व्यक्ति सेवानियोजन अधिनियम, १९४४ है, जिसमें व्यवस्था है कि २० या उससे अधिक लोगों के किसी प्रतिष्ठान में अनिवार्यतः ३ प्रतिशत भर्ती विकलांगों में से हो। जर्मन संघ गणराज्य में विकलांगों को ८ से १० प्रतिशत तक सेवानियुक्ति दिये जाने की व्यवस्था है। ग्रीस में ७ प्रतिशत और ब्राजील में २ प्रतिशत की व्यवस्था है। अर्जेण्टीना में कतिपय उद्योग विकलांगों के लिये आरक्षित हैं। आस्ट्रिया में सार्वजनिक सेवाओं में कतिपय रिक्त स्थान उनके लिये आरक्षित हैं। आस्ट्रेलिया में प्रथम पन्द्रह के पीछे एक स्थान और उसके बाद हर बीस कर्मचारियों के पीछे एक स्थान विकलांग के लिये आरक्षित है।

भारत में भी कुछ प्रतिशत नियुक्तियाँ और / अथवा कतिपय धन्धे विकलांगों के लिये आरक्षित होने ही चाहिए।

सभी के कल्याण के लिये बेकारी बीमा सहित सामाजिक सुरक्षा की एक समग्र योजना तैयार की जानी चाहिए।

सामाजिक कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण

इसके लिये ऐसे विषयों के बारे में सामाजिक कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ेगी, यथा—सामाजिक कार्य का दर्शन और इतिहास, भारत की सामाजिक समस्याएँ, सामाजिक विधान, कल्याण सेवाएँ, आधारभूत सामाजिक कार्य की प्रविधियाँ अर्थात् समस्या-वृत्त, सामूहिक कार्य, सामुदायिक संगठन, सामाजिक अनुसन्धान, मानवीय व्यवहार का गतिविज्ञान, मनोविकृति सहित बाल तथा वयस्क मनोरोग विज्ञान, अपराध मनोविज्ञान, तन्त्रिका-अवसाद और मनोविकृति का उपचार, मानसिक रोगियों के व्यवहार की समस्याएँ और उनका प्रबन्ध, चिकित्सकीय सामाजिक कार्य, मनोदैहिक भेषज, रोग के भावनात्मक तथा सामाजिक पक्ष, देखभाल तथा पुनर्वास, मनोविकृति सम्बन्धी रोगी-वृत्त, बच्चों के लिये मार्गदर्शी प्रविधियाँ, विभिन्न अवस्थाओं में मनश्चिकित्सा सम्बन्धी समाज-सेवा का संगठन और प्रशासन। यह सम्भव है कि वे 'इण्डियन कान्फ्रेन्स आफ सोशल वर्क', 'एसोशिएशन आफ एलमनी आफ स्कूल्स आफ सोशल वर्क' अथवा 'इण्डियन मेडिकल एसोशिएशन' जैसे संगठनों के तत्त्वावधान में स्वयं को व्यावसायिक समूहों के रूप में संगठित करें तथा सामाजिक कार्य और चिकित्सा के बीच संचार-सेतु का काम करें। उन्हें इस प्रकार कार्य करने का अवसर दिया जाये कि एक ओर

तो वे रोगी, उसके परिवार और समुदाय तथा दूसरी ओर डाक्टरों, मनोरोग-चिकित्सकों, नर्सों, व्यवसायजन्य रोग चिकित्सकों, भौतिक रोग चिकित्सकों आदि के बीच सम्पर्क-सेतु बनें। वे विद्वानों को इस बात की प्रेरणा दें कि विभिन्न प्रमुख रोगों के निवारण, कारण और उपचार के सम्बन्ध में सघन अनुसन्धान किये जायें।

निःस्वार्थ सेवाभाव

यह राज्य के वश की बात नहीं है कि वह आदर्श सामाजिक कार्यकर्ताओं का संवर्ग खड़ा कर सके। यह तो सामाजिक-सांस्कृतिक नेताओं का कर्तव्य है कि वे, समुचित प्रशिक्षण तथा योग्यता वाले जिन सामाजिक कार्यकर्ताओं की रुचि और सहानुभूति पददलितों के प्रति हो, उन्हें उठायें, प्रोत्साहन और प्रेरणा दें, उनका मार्ग-दर्शन करें। विभिन्न सरकारी और गैर-सरकारी (स्वैच्छिक), स्थानीय और राष्ट्रीय अभिकरणों तथा योजनाओं द्वारा जो सामाजिक कार्य हो रहा है, उसकी ये नेता समीक्षा करें, उसे सन्तुलित और समाकलित करें।

राष्ट्रीय सामाजिक नीति निर्धारित करते समय अपनी राष्ट्रीय परम्पराओं एवं परिस्थितियों की विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा। केवल बन्दर की भाँति पश्चिम का अनुकरण करना पर्याप्त नहीं होगा। सदियों के अनुभव से इस देश में जो मूल वृत्तियाँ और संस्थाएँ पनपी हैं, उनका इस प्रयोजन के लिये समुचित सदुपयोग करना चाहिए। सामाजिक कार्य के लिये प्रेरणा का मुख्य स्रोत सामान्य धर्म-परायणता और धार्मिक निष्ठा है। इस निष्ठा की पुनः प्रतिष्ठा करके उसमें शक्ति का संचार किया जाना चाहिए। केवल इसीसे नीति के सफल परिपालन की ठोस नींव रक्खी जा सकती है। कागजी योजनाएँ और धन-लोलुप संस्थाएँ निरर्थक सिद्ध होंगी। पश्चिम से उधार लिये गये लुभावने, पर खोखले नारे सोने का कपटी मृग दिखा सकते हैं, आस्था की सीता नहीं। असीसी के सन्त फ्रांसिस, फ्लोरेंस नाईटिंगेल, लिविंगस्टोन या डैमियन, योजना आयोग के मोटे-मोटे पोथों और राज-नीतिक दलों के शब्दों से अलंकृत घोषणा-पत्रों से नहीं उपजते। हमारी राष्ट्रीय सांस्कृतिक परम्परा के ज्वलंत उदाहरण ही हमारे सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिये निश्चय ही सर्वोच्च प्रेरणा-स्रोत सिद्ध होंगे।

जहाँ सरकार का दायित्व है कि सामाजिक कार्य के लिये वह सभी प्रकार की वित्तीय और प्रशासनिक सहायता प्रदान करे, वहाँ राष्ट्रीय सामाजिक नीति के परिपालन का भार सामाजिक-सांस्कृतिक नेताओं को सौंपा जाना चाहिए, क्योंकि इस क्षेत्र में सफलता का प्रथम आवश्यक सोपान निःस्वार्थ सेवा-वृत्ति है, भाड़े की वृत्ति नहीं।

(१५ अप्रेल, १९७२)

कहाँ से–किधर–कैसे

कहा जाता है कि एक बार पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि हमारे देश के जितने नागरिक हैं, उतनी ही हमारी समस्याएँ हैं। क्या यह न्यूनोक्ति नहीं है ? हमारी समस्याओं की जो विविधता और व्यापकता है, उसे देखते हुए उनकी पूरी थाह को पा लेना असम्भव प्रतीत होता है।

उदाहरण के लिये, हमारे देश में विशाल वन क्षेत्र हैं। उनमें वनवासी रहते हैं। वे अनपढ़, अन्धविश्वासी हैं और वन अधिकारी तथा ठेकेदार साँठ-गाँठ करके उनका शोषण करते हैं। उनमें में कुछ तो इतने अज्ञ हैं कि शौचादि के लिये पानी का प्रयोग भी नहीं करते। अनधिसूचित जातियों या भूतपूर्व 'जरायमपेशा' जातियों के अधिकांश लोग और सभी घूमन्तू तथा अर्धघूमन्तू जातियाँ 'सभ्यता' के प्रभाव से अभी कोसों दूर हैं। हमारे ग्रामवासियों को सामान्यत: स्वच्छता के साधारण तथा सार्वजनिक नियमों का अभी ज्ञान नहीं है। यह किसका दायित्व है, यथा—मच्छरों के अण्डे देने के स्थानों को नष्ट करने का ज्ञान ? नगर-क्षेत्रों में भी स्वच्छ रहने की भावना तथा स्वच्छता की आदतों का अभाव है। कितने स्थानीय स्वायत्तशासी निकाय यह दावा कर सकते हैं कि उनके यहाँ गन्दे जल को बहाने की ठीक व्यवस्था है। क्या उनके यहाँ सार्वजनिक शौचालय और मूत्रालय हैं तथा जल-मल की निकासी और स्वच्छता की दक्षतापूर्ण व्यवस्था है ? (पर्यावरण-प्रदूषण के संकट के निवारण के उपाय तो दूर की बात है।)

महानगरों में भी ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ लोगों तथा यातायात की अस्वास्थ्यकर भीड़भाड़ को रोकने के लिये समुचित योजना या स्वच्छता का उचित प्रबन्ध नहीं है। सफाई के प्रति अभी हमारा समाज सजग नहीं हो पाया है। यदि सार्वजनिक स्थानों में थूकना या कूड़ा फेंकना हस्तक्षेप्य अपराध बना दिया जाये तो उस दशा में शायद ही कोई व्यक्ति 'हवालात' से बाहर रह पायेगा। नगर-क्षेत्रों में भी सामान्य नागरिक भावना का अभाव है, यथा—यातायात-नियमों का स्वेच्छा से पालन करना; भटके हुए नवागन्तुक को सही पता बताना; कमरा छोड़ते समय या रेल-गाड़ी से उतरते समय बत्तियाँ तथा पंखे बन्द करना; सार्वजनिक सम्पत्ति को न स्वयं हानि पहुँचाना और न दूसरों को ऐसा करने देना; रैन-बसेरे, धर्मशाला, रेस्तरां, लौज, होटल, अस्पताल, छात्रावास, विद्यालय-भवन, प्रसूतिगृह, सार्वजनिक

परिवहन, वाचनालय, सार्वजनिक भवन, पार्क, स्टेडियम, खेल के मैदान, श्मशान-भूमि या कब्रिस्तान आदि का उपयोग करते समय सामाजिक दायित्व की भावना का प्रदर्शन करना; सड़क पार करने में बूढ़े तथा अपंग की सहायता करना; बच्चे को वाहन के नीचे आने से बचाना; चढ़ाई आने पर मानव-चालित रिक्शे से उतर जाना; गुण्डों, प्राकृतिक आपदा या दुर्घटना से पीड़ितों की सहायता के लिये तत्काल दौड़ पड़ना। सामान्यतः उपर्युक्त भावना का अभाव है।

एक ओर जहाँ यह नियम-सा बन गया है कि दूसरों की भलाई के विषय में उपेक्षा बरती जाये, वहाँ दूसरी ओर नगरनिवासी प्रायः अपने हित और कल्याण के बारे में भी जागरूक नहीं रहते। कितने प्रतिशत नागरिक जानते हैं कि पड़ोस में आग लगने, डाका पड़ने, हत्या या दुर्घटना से मरने जैसी आपाती घटनाओं में किस अधिकारी को कौन-सी दूरभाष-संख्या पर सूचना दी जाये? कहा जाता है कि विनम्रता एक वशीकरण मन्त्र है। इसमें हींग लगे न फिटकरी, रंग चोखा आये। निश्चय ही सूखे सामाजिक जीवन में यह रस भरती है, परन्तु लोग फिर भी इसमें कंजूसी बरतने से बाज नहीं आते। कहा जाता है, गुड़ न दे, गुड़ सा तो बोले। उसमें तो कोई धेला-टका नहीं लगता। पर वाह रे नगरवासी! उसके कान पर जूँ नहीं रेंगती। पड़ोस में बूढ़ा मरे या जवान, उसे तो अपने काम से काम। कितना हृदयहीन, कैसा 'स्थितप्रज्ञ' हो गया है वह!

(समस्याओं की गम्भीरता को देखते हुए हो सकता है आपको यह कथन बचकाना लगे। पर यथार्थ में हमें यह जान लेना चाहिए कि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के भगीरथ प्रयास का श्रीगणेश कहाँ से होना चाहिए।)

'विकास' एक बहु-आयामी संकल्पना है। वह अपने आपमें व्यक्ति तथा राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न पक्षों को समेटती है। पर हमारे अंग्रेजी पढ़े-लिखे भद्रजन को तो विकास का एक ही रूप दृष्टिगोचर होता है और वह है आर्थिक। उनके सामने समग्र जीवन का कोई समेकित दृष्टिकोण नहीं होता। इस प्रकार रूढ़ अर्थ में 'विकास' का अभिप्राय आर्थिक विकास हो गया है। और उन्हें पूरा विश्वास हो चला है कि धन की यह लिप्सा पश्चिम का अनुकरण करके—भारत को पश्चिम की छाया बनाकर—पूरी की जा सकती है। पर वे नितान्त भ्रम में हैं। विचारार्थ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

गत शताब्दी से हम औद्योगीकरण की पश्चिमी पद्धति का अनुसरण कर रहे हैं। पश्चिम की भाँति हमारे देश में भी लोग नगरों की ओर भागने लगे हैं। यह प्रवृत्ति दिनोंदिन तीव्रता पकड़ती जा रही है। इससे हमारे इतिहास में ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ पैदा हो गयी हैं जो कभी न देखीं, न सुनीं। परिवार का ढाँचा और ग्राम-मण्डल टूट रहा है। औद्योगिक क्षेत्रों में स्वस्थ सामुदायिक जीवन देखने को नहीं मिलता। घर (मकान) पूरे नहीं पड़ते। बड़ी-बड़ी गन्दी बस्तियाँ हैं।

उद्योग-धन्धों में आये दिन दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। शिक्षा का अभाव है। जो लोग गाँव छोड़कर नगरों में चले जाते हैं, वे अपनों से कटकर भीड़ में खो जाते हैं। स्त्री-पुरुष अनुपात बिगड़ गया है। जो ग्रामीण अपने नैसर्गिक सामाजिक वातावरण से मानसिक रूप से कटकर कटी पतंग जैसी टेकरहित स्थिति में आ गये हैं, उनमें सामाजिक तथा नैतिक मूल्य कैसे रह पायेंगे? औद्योगिक जीवन में व्यक्तिगत आपाधापी का बोलबाला है। भौतिक और अभौतिक उन्नति के बीच कोई सन्तुलन नहीं है। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से उपजी नयी जीवन-पद्धति के बोझ को उठाना कठिन हो गया है। परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों का लोप तो हो रहा है, पर उनका स्थान लेने वाले नये मूल्य नहीं पनप रहे हैं। ये सभी कारण सर्वथा नये हैं और हमारी राष्ट्रीय प्रकृति को चुनौती दे रहे हैं।

इन बातों का प्रभाव और भी गहरा हो गया है, क्योंकि धार्मिक और शैक्षणिक संस्थाओं की अवनति हो रही है। वर्तमान सामाजिक संगठनों में ठीक समंजन नहीं है। परम्परागत और आधुनिक, दोनों प्रकार के अन्धविश्वास हैं। जातीय तथा साम्प्रदायिक विद्वेष हैं। नित नया भ्रष्टाचार है। अत: कहा जा सकता है कि नगर बड़ा तो अपराध की दर भी बड़ी।

पश्चिमी प्रतिमान

पश्चिमी प्रतिमान (माडल) का अनुकरण करके हमने उत्पादन के ऐसे प्रति-रूपों को बढ़ावा दिया है जो भारत की परिस्थितियों को रास नहीं आते। आर्थिक प्रगति के मूल्यांकन की कसौटी यह होनी चाहिए कि सामान्यजन के रहन-सहन का स्तर बराबर ऊँचा होता जाये। सकल राष्ट्रीय उत्पादन उसकी कसौटी नहीं हो सकता। संगत बात यह है कि राष्ट्रीय उत्पादन में उपभोज्य वस्तुओं का अंश कितना है। यद्यपि इस्पात, रासायनिक पदार्थ, यन्त्र आदि महत्त्व की वस्तुएँ हैं और कालान्तर में आवश्यक हैं, तो भी वे निर्धन जनता के लिये आवश्यक वस्तुओं के स्थान को नहीं भर सकतीं। और, अभी तो सकल राष्ट्रीय उत्पादन में सारवान अंश इन्हीं वस्तुओं का है। दूसरे, हमने विलास-सामग्री के उत्पादन पर भी अधिक बल दिया है। उत्पादन-प्रणालियों के भीतर ही ऐसी व्यवस्था है कि वह उन वितरण-प्रणालियों का विरोध करे जो उत्पादन-प्रणालियों के प्रतिकूल हों।

अत: यह सोचना गलत है कि हम पूँजीगत सामग्री और बिलास-सामग्री का उत्पादन बढ़ाकर सकल राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि कर सकते हैं और बाद में सकल राष्ट्रीय उत्पादन का सम्यक् बँटवारा कर सकते हैं। विलास-सामग्री के उत्पादन में अधिक उत्पादन के जो यान्त्रिक उपाय काम लाये जाते हैं, उनसे आजीविका देने की सम्भावना घट जाती है और धन केवल चन्द लोगों की मुट्ठियों में सिमटकर रह जाता है। अत: यह आवश्यक है कि उत्पादन की वर्तमान प्रणाली को बदला

जाये, विलास-सामग्री पर प्रतिबन्ध लगे, पूँजीगत सामग्री वाले उद्योगों में पूँजी-निवेश को कम किया जाये, और उपभोज्य सामग्री वाले उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाये। इससे आय की विषमता को कम करने में सहायता मिलेगी और अतिरिक्त आजीविका की व्यवस्था तथा उपभोज्य वस्तुओं की अतिरिक्त आपूर्ति तो होगी ही।

पश्चिम में संगणकीकरण (कम्प्यूटराइजेशन) के लिये दीवानापन बढ़ता जा रहा है। इससे समस्याएँ खड़ी हो रही हैं, भले ही वहाँ पूरी आजीविका और उचित पारिश्रमिक मिलता है और दोनों पक्षों के बीच अनुबन्ध होते हैं। संगणकों की संचालन-पद्धति से ही पता चल जाता है कि कोई देश उनकी क्षमता का पूर्ण सदुपयोग तभी कर सकेगा जब वह शिक्षा, संस्कृति, कौशल और औद्योगिक तथा आर्थिक उन्नति का एक निश्चित स्तर प्राप्त कर ले। हमारा देश अभी उस स्तर पर नहीं पहुँचा है। बेकारी और कम पारिश्रमिक की लड़खड़ाती स्थिति को देखते हुए हमारा विचार है कि पश्चिम की भाँति संगणक का अन्धाधुन्ध प्रयोग आत्मघाती सिद्ध होगा।

हम जानते हैं कि मुद्रास्फीति और मूल्य-वृद्धि में भेद है, भले ही वह सूक्ष्म हो। 'मुद्रास्फीति' मुद्रा का अत्यधिक प्रसार है। इसके कारण सामान्यत: मूल्य में वृद्धि होती है, पर विकसित देशों में मूल्य-वृद्धि का मुख्य कारण अत्यधिक माँग है, अत्यधिक मुद्रा-प्रसार नहीं। जब उत्पादन की क्षमता कम हो जाती है और माँग बढ़ जाती है तो मूल्य बढ़ जाते हैं। अत: उन देशों में माँग पर अंकुश लगाने की नीति अपनायी जाती है। वही नीति भारत जैसे विकासशील देश पर लागू नहीं की जा सकती। भारत में मण्डी में माँग निर्धन वर्गों की सच्ची और अपरिहार्य आवश्यकताओं से बहुत कम है। भारतीय परिस्थितियों में जन-विरोधी विधान के द्वारा माँग पर अंकुश लगाना श्रमशील जनता की दरिद्रता को बढ़ाना ही होगा। मुद्रा-प्रसार की दर को राष्ट्रीय उत्पादन के समतुल्य रखना वास्तविकता के अधिक अनुरूप होगा। इसके अतिरिक्त अन्य उपाय भी करने होंगे, जैसे—विमुद्रीकरण और प्रशासनिक व्यय में कठोर कटौती आदि। हम इस विचार से सहमत नहीं हैं कि तीव्र आर्थिक विकास और मूल्य-वृद्धि एक-दूसरे से अनिवार्यत: जुड़े हैं।

बेकारी

मुद्रास्फीति के बाद हमारी अर्थव्यवस्था की सर्वाधिक तत्काल ध्यान देने योग्य समस्या बेकारी की है। दूसरे महायुद्ध के बाद केन्स के अनेक सिद्धान्त पश्चिमी देशों के लिये पुराने पड़ गये, क्योंकि युद्धोत्तरकाल में उनकी अधिक तात्कालिक आर्थिक समस्या बेकारी और व्यापारिक मन्दी नहीं, वरन् पूंजी, उपकरण और वस्तु-सूची के अभाव की रही है। किन्तु भारत में बेकारी सर्वाधिक

तात्कालिक समस्या बनी हुई है । अतः वर्तमान पश्चिमी प्रणाली भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बैठती । आवश्यकता इस बात की है कि इस समस्या को हल करने के लिये हम अपने साधन और उपाय खोजें, किन्तु केन्स की नीति को ध्यान में रखें और दीर्घकालिक बेकारी के समय निवेश करके जीविका बनाये रखें। हमें निम्नतम आर्थिक इकाई की क्रय-शक्ति में वृद्धि का चक्कर चलाना है ताकि उपभोज्य वस्तुओं की माँग में बढ़ोत्तरी हो सके । उसके द्वारा उपभोज्य वस्तु तैयार करने वाले उद्योग पनपेंगे । वहाँ और अधिक लोगों को काम मिल सकेगा, निर्वाह-स्तर से नीचे के श्रमिकों की आय बढ़ सकेगी और आय की विषमता भी कम हो सकेगी।

हम जानते हैं कि पश्चिम में यह चर्चा का विषय है कि बचत की इच्छा और निवेश की इच्छा में सन्तुलन होना चाहिए । पर हमारा विचार है कि यह चर्चा भारत में उतनी संगत नहीं है जितनी पश्चिम में । पश्चिम में बचत के निर्णय का अर्थ यह नहीं है कि निवेश करना ही होगा । वहाँ बचत करने वालों का समूह निवेश करने वालों के समूह से सामान्यतः भिन्न है । किन्तु हम इस विचार से सहमत हैं कि समग्र व्यय, बचत और निवेश सम्बन्धी आर्थिक गतिविधि का संचालन सरकार को करना चाहिए । उससे समूचे राष्ट्र का हित होगा ।

हमें अपने देश के 'बचत-निवेश' के ताने-बाने को ध्यान में रखना होगा । यहाँ समग्र बचत में ७५ प्रतिशत से भी अधिक अंश घरेलू बचत का होता है । इस बचत का सीधे निवेश कर देने का प्रचलन है । बचत करने वालों से निवेश करने वालों की संख्या भी बहुत अधिक है । हमें बचत के लिये पर्याप्त प्रेरणा देनी होगी । हमें छोटे निवेशकर्ताओं को पर्याप्त अवसर देना होगा । इसे सुचारु रूप से करने के लिये वर्तमान औद्योगिक नीति को बदलना होगा । हमें बचत की परम्परागत ग्रामीण आदतों को काम में लाना होगा । छोटे निवेशकर्ताओं को निवेश-वृद्धि के लिये प्रोत्साहन मिलना चाहिए । उन्हें दिखावे की खपत में कमी करनी चाहिए । दिखावे की खपत पर कर लगना चाहिए । हमें संयम और सादगी पर बल देना चाहिए और इसके लिये परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों का भरपूर लाभ उठाना चाहिए । इससे पूँजी का निर्माण होगा ।

स्वदेशी

हमें स्वदेशी की भावना की पुनः प्रतिष्ठा करनी चाहिए । उससे उपभोग की हमारी आदतों में समुचित परिवर्तन आयेगा । हमें आयात-नीति और औद्योगिक नीति का पुनः निर्धारण करना होगा । उसके अनुसार सभी अनावश्यक आयात बन्द कर दिया जायेगा; आयात का सदुपयोग मुख्यतः उत्पादक सामग्री के उत्पादन के लिये किया जायेगा; विलास-सामग्री की खपत को महँगा विलास

बना दिया जायेगा; आयात-प्रतिस्थापन-कार्यक्रम को बढ़ावा दिया जायेगा; संधारण-आयात अथवा विकास दर बढ़ाने के लिये अपेक्षित कच्चे माल और पुर्जों के आयात को शनैः-शनैः कम कर दिया जायेगा, यथा—उर्वरक, कीटनाशक, कच्चा तेल, रासायनिक पदार्थ, अलौह धातु, विशेष प्रकार का इस्पात, यन्त्रों के पुर्जे और फालतू पुर्जे; घरेलू उत्पादन पर बल दिया जायेगा। उससे औद्योगिक प्रसार की आवश्यकताएँ बहुत कुछ पूरी हो सकेंगी, अति आधुनिक पश्चिमी यन्त्रों का साहस और दृढ़ता से प्रतिस्थापन हो सकेगा और वे देश में ही तैयार किये जा सकेंगे।

सच मानिए, पश्चिम के अन्धानुकरण से कोई लाभ नहीं होगा। इसके विपरीत आवश्यकता यह है कि उनसे सीखे अनेक सिद्धान्तों को भूल जायें। उदाहरणार्थ, हमें बताया गया कि अनेक सिद्धान्तों में अन्तर्भूत विसंगतियाँ हैं, जैसे—रक्षा और विकास; पारिश्रमिक-वृद्धि और जीविका के अवसरों में वृद्धि; पूँजी-निर्माण और आर्थिक अधिकार का विकेन्द्रीकरण; मूल्य स्थिरीकरण की नगरीय माँग और कृषि-उत्पाद के लाभकारी मूल्यों की ग्रामीण माँग जिससे उत्पादन की समूची लागत निकल आये और किसानों के लिये लाभ की समुचित सम्भावना रहे; किसानों को समुचित लाभ और कृषि-श्रमिकों को समुचित पारिश्रमिक; उद्योगों का आधुनिकीकरण और भारतीय प्रौद्योगिकी का श्रीगणेश। अभी तक ऐसा ढर्रा रहा है कि योजना का चक्र ऊपर से नीचे की ओर चलता है, यदि इसके स्थान पर यह चक्र नीचे से ऊपर की ओर चलने लगे तो इन प्रत्यक्ष विसंगतियों का पर्याप्त सीमा तक लोप हो जायेगा।

अब तक का हमारा अनुभव सिद्ध करता है कि बन्दर की भाँति पश्चिम का अनुकरण हमारे राष्ट्रीय विकास के लिये घातक है। हमें अपनी परम्परा, आवश्यकता, परिस्थिति के अनुसार नये सिरे से अपनी बुद्धि से सोचना होगा। जिन बातों पर तत्काल पुनर्विचार करना है, वे हैं—

—भारतीय परिस्थितियों के लिये उपयुक्त आयोजना के उद्देश्यों और पूर्वता-क्रम को पुनः परिभाषित करना।

—भारतीय परिस्थितियों में 'निर्धनता-रेखा' की निश्चित परिभाषा।

—स्वदेशी भारतीय प्रौद्योगिकी का विकास।

—विभिन्न उद्योगों के आकार, उनकी स्थिति, प्रौद्योगिकी और स्वामित्व-प्रणाली पर पुनर्विचार।

—निवेश, नियोजन, उत्पादकता, मूल्य और आय। वेतन-सम्बन्धी समेकित राष्ट्रीय आर्थिक नीति का निर्धारण।

—देश में न्यूनतम और अधिकतम आय के बीच कोई निश्चित अनुपात।

—आर्थिक आत्मनिर्भरता पर बल और विदेशी हितों के आर्थिक साम्राज्यवाद से मुक्ति।

—स्वचलन (ऑटोमेशन) और श्रमिकीकरण के बारे में समुचित नीतियाँ।

—कालाबाजारियों, जमाखोरों, तस्करों, सटोरियों और उनका संरक्षण करने वाले अधिकारियों के विरुद्ध कठोर उपाय।

—अन्तरराष्ट्रीय श्रम-संगठन अभिसमय सं० ८७-१९४८, जो संघ-निर्माण, स्वातन्त्र्य और संगठन अधिकार के संरक्षण से सम्बन्धित है और अभिसमय सं० ९८-१९४८, जो सामूहिक सौदेबाजी के बारे में है, का पुष्टिकरण।

—अन्तरराष्ट्रीय श्रम-संगठन के विश्व सेवानियोजन-कार्यक्रम सम्बन्धी प्रतिवेदन की संस्तुतियों का निष्ठापूर्वक परिपालन।

किन्तु दुर्भाग्यवश हमारे शासक इतने व्यस्त हैं कि उन्हें इस बात के लिये समय ही नहीं मिलता कि वे ऐसी छोटी-मोटी 'नगण्य' बातों पर विचार कर सकें। उदाहरणार्थ :

स्वाधीनता के ३६ वर्ष बाद भी हम 'सेवायोजन', 'बेकारी', 'अपूर्ण सेवायोजन', 'ग्रामीण निर्धन' आदि की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दे सके हैं। जिन लोगों को केवल फसल की कटाई के समय ही काम मिलता है, उन्हें अथवा भवन-निर्माण में जुटे असुरक्षित दिहाड़ी पर काम करने वालों को हम किस श्रेणी में रक्खेंगे ? हमने देखा है कि भारतीय परिस्थितियों में एकांगी पद्धति बेकारी और अपूर्ण सेवायोजन को आँकने में अपर्याप्त और असंगत सिद्ध होती है। किन्तु देश की इस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आर्थिक समस्या की विशालता को आँकने के लिये समुचित पद्धति का विकास करने हेतु हमारे पास समय ही नहीं है। हम अन्यत्र व्यस्त रहे हैं।

कितने आश्चर्य की बात है कि हम कई दशाब्दियों से योजना के डंड पेल रहे हैं, फिर भी हमारे पास वर्तमान औद्योगिक एककों की कोई पूर्ण सूची उपलब्ध नहीं है ! उनमें कितने बड़े हैं, कितने लघु और कुटीर हैं ? वे कहाँ-कहाँ स्थित हैं और क्या कर रहे हैं ? जो भी अधूरी सूचना मिलती है, उसका तत्काल उपयोग नहीं होता। फलतः लघु और कुटीर उद्योगों के स्वरूप में तीव्रता से होने वाले परिवर्तन के कारण उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। जिला उद्योग केन्द्रों के कार्यक्रम की वास्तविक उपलब्धि एवं मूल्यांकन के बारे में जो आँकड़े दिये जाते हैं, वे भी वास्तविकता से परे होते हैं।

भारत सरकार हमारे समग्र संसाधनों की पूर्ण छवि भी हमारे सामने प्रस्तुत नहीं कर सकती।

सीधे सादे पर महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के बारे में अनुसंधान करने के लिये भी हमारे पास समय और इच्छा का अभाव था। उदाहरणार्थ—कारखाने के उपरिव्ययों के उच्च प्रभार, यथा—टूट-फूट, पूंजी पर ब्याज, उच्च प्रबन्ध प्रभार, फैक्टरी

से परिवहन के प्रभार, कई व्यापारियों के हाथों से होकर जाने में बिचौलियों के लाभ के ऊँचे अनुपात आदि को ध्यान में रखते हुए यह कहाँ-कहाँ सम्भव है कि कार्य-दक्षता को घटाये बिना संयन्त्रों का आकार छोटा कर दिया जाय ? उपयुक्त प्रौद्योगिकी के बल पर यह कहाँ तक सम्भव है कि गाँव छोड़कर नगरों की ओर भागने वालों की संख्या में कमी की जाये और इस प्रकार नगरीकरण की बाढ़ को रोका जाय ?

इस आधार पर क्या यह सम्भव होगा कि छोटे पुरों (कस्बों) और ग्रामों में नये उद्योगों की स्थापना हो; उनमें स्थानीय पूँजी, स्थानीय श्रमिक, और स्थानीय उद्यम-प्रतिभा का सदुपयोग हो ? क्या ऐसे उद्योग आत्मनिर्भर हो सकते हैं ? क्या उसमें दक्ष विपणन संगठन, समुचित अधस्तन्त्र और 'स्वदेशी' की भावना का पुनरुत्थान सहायक हो सकता है ? क्या यूगोस्लाविया की रेलों की भाँति कुछ परम्परागत बड़े-बड़े उद्योगों को लाभकर ढंग से विभिन्न छोटे-छोटे एककों में विभाजित किया जा सकता है ? क्या नये सिरे से स्थानिक आयोजना व्यावहारिक एवं वांछनीय है ?

पेय जल

सरकार की उदासीनता तो इस सीमा तक पहुँच गयी है कि मानव की मौलिक आवश्यकताओं पर भी ध्यान नहीं दिया जा रहा है । यथा, कौन नहीं जानता कि 'रोटी, कपड़ा और मकान' (अन्न, वस्त्र और घर) से भी अधिक आवश्यक मनुष्य के लिये निरापद पेय जल है । अन्तरराष्ट्रीय पेय जल प्रदाय तथा स्वच्छता दशक (अप्रैल १९८१ से मार्च १९९१) के अनुसार दशाब्दी के अंत तक सभी गाँवों के लिये पेय जल की व्यवस्था हो जायेगी । किन्तु तथ्य यह है कि यद्यपि सरकार ने यह घोषणा कर दी है कि १-४-१९८३ को केवल १,३०,७६१ 'समस्या-ग्राम' ऐसे थे जहाँ पेय जल की व्यवस्था की जानी थी, फिर भी हमारे कम से कम ५० प्रतिशत ग्राम निरापद पेय जल के लिये तरस रहे हैं । इधर सरकार का यह हाल है कि वह रंगीन टी० वी०, इलैक्ट्रानिक साज सामान और विलास-सामग्री को प्राथमिकता प्रदान कर रही है ।

आजकल 'ग्रामीण पुनर्निर्माण' की चर्चा करने का 'फैशन' चल पड़ा है । किन्तु क्या हम इस बारे में वास्तव में चिन्तित हैं ? हाल यह है कि बिजली, पानी, विभिन्न प्रकार की मिट्टी, पौधों के पोषण, मिट्टी-जल-पौधे के परस्पर सम्बन्ध के बारे में संगत जानकारी भी उपलब्ध नहीं है । कुल सिंचित क्षेत्रों के बारे में अलग-अलग मंत्रालय अलग-अलग आँकड़े दे रहे हैं । हम अभी तक किसी वैज्ञानिक आधार पर 'ग्रामीण-निर्धन' को नहीं चीन्ह सके हैं । हम छोटे किसानों के लिये ऋण, आदान और प्राविधिक (टैक्नीकल) सहायता नहीं जुटा सके हैं । हम विशाल

कृषि-आय को सिंचाई, विद्युत् आदि की छोटी-बड़ी योजनाओं में नये पूंजी-निवेश के लिये विवश नहीं कर सके हैं। हम भांडागारण, विधायन और परिवहन की पर्याप्त सुविधा प्रदान नहीं कर सके हैं। हम जल-संसाधनों के विकास, भूमि की वैज्ञानिक आधार पर पुनः चकबन्दी, संयोजक सड़कों के निर्माण, नालियों के निर्माण, भूमि के समतलन, खेत की कुल्यों की खुदाई आदि की ओर गम्भीरतापूर्वक ध्यान नहीं दे सके हैं। इस प्रकार हम ग्राम-विकास का अधस्तन्त्र भी तैयार नहीं कर सके हैं।

ग्राम-पुनर्निर्माण : चूंकि श्रद्धेय गांधी जी का नाम वोट बटोरने वाले नारे के रूप में सहज उपलब्ध था, अतः सत्तारूढ़ दल को, 'ग्राम-पुनर्निर्माण' की समस्या को विशेष स्तर प्रदान करना पड़ा। "गांधी जी की समाज-संकल्पना लोकतन्त्र के लिये संजीवनी है। उनके विचार में समाज एक 'महासागर' है जिसमें सजीव और गतिमान समुदायों के संकेन्द्री वृत्त विद्यमान हैं जिनकी धुरी और केन्द्र होंगे ग्राम अथवा मुख्य रूप से प्रत्यक्षतः ग्राम-समुदाय।" गांधी जी चाहते थे कि नीचे ग्राम और पुर (कस्बे) के स्तर से ऊपर राष्ट्रीय स्तर तक स्व-शासी संस्थाओं का एक समेकित ढाँचा खड़ा किया जाये ताकि लोग अपना प्रबन्ध अपने आप कर सकें।

१९५० में सरकार ने सामुदायिक विकास कार्यक्रम और १९५९ में पंचायती राज चालू किया। १९५७ में बलवन्तराय मेहता समिति ने कहा कि विकास-कार्यक्रम को प्रभावी बनाने के लिये प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए और विकेन्द्रीकृत प्रशासन-प्रणाली निर्वाचित निकायों के अधीन होनी चाहिए। "दायित्व और शक्ति के बिना विकास की गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकती।" संविधान के अनुच्छेद ४० में वर्णित निदेशक सिद्धान्तों में निहित अर्थ और आश्वासन यह था कि आधार स्तर पर स्वशासन के अभ्यास और प्रशिक्षण से लोगों में सार्थक भागीदारी का भाव उत्पन्न होगा। उसी से ग्राम-पुनर्निर्माण को गति प्रदान करने तथा लोकतन्त्री संस्थाओं के विकास के लिये अधिकांश स्थायी ऊर्जा प्राप्त होगी।

किन्तु जैसाकि बलवन्तराय मेहता समिति ने कहा है, समूचा प्रयास व्यर्थ गया। बाद में भी बाहरी टीमटाम की गयी। 'गाँवों की गरीबी हटाओ' छठी योजना का मुख्य नारा था। १९८२-८३ में जो कार्यक्रम चले, उनमें समेकित ग्राम-विकास कार्यक्रम, राष्ट्रीय ग्राम-सेवायोजन कार्यक्रम, सूखा प्रवण क्षेत्र कार्यक्रम, मरुस्थल-विकास कार्यक्रम और कृषि-विपणन कार्यक्रम भी सम्मिलित थे। छठी योजना के काल में आशा थी कि समेकित ग्राम-विकास कार्यक्रम के अधीन प्रति विकास-खण्ड ३००० परिवारों की दर से डेढ़ करोड़ परिवारों को सहायता मिल सकेगी। इनमें नवीनतम योजना 'ग्रामीण क्षेत्रों में महिला तथा बाल विकास' की है।

किन्तु अब यह स्पष्ट हो गया है कि ये बड़ी-बड़ी संस्थाएँ, कार्यक्रम, योजनाएँ, आदि देहात के निर्धनों की दुर्दशा का ढोल पीटकर ही रह गयी हैं।

इस विफलता के क्या कारण हैं ? पहला कारण तो शासकों की खोखली निष्ठा है। उन्होंने इस काम को केवल चुनाव की राजनीति का एक कारगर हथियार समझा। उन्होंने वास्तविक समस्या की ओर पूरी तरह गहराई से ध्यान नहीं दिया। उदाहरणार्थ—उन्होंने इस कार्यक्रम को एक अलग-थलग कार्यक्रम समझा। किन्तु भारत सरकार द्वारा १९६३ में गठित नगरीय सम्बन्ध समिति ने कहा है कि "नगरीकरण देहात से नगर का रूप धारण करने की एक सतत प्रक्रिया है; वर्तमान अन्तर तो इस सतत प्रक्रिया का एक पड़ाव है।"

श्री एस० के० डे ने यह भी कहा कि, "भारत में और सामान्यत: विश्व में मेरा जो अनुभव रहा है, उससे इस बात की पुष्टि होती है कि पारिभाषिक रूप से विकास एक समेकित प्रक्रिया है और ग्राम विकास ग्रामीण-नगरीय सान्तत्यक का ही एक अंग है। विकास तभी सफल हो सकता है जब एक ओर सभी राष्ट्र-निर्माता अभिकरणों के बीच और दूसरी ओर बहुमुखी संगठनों एवं संस्थाओं में लोगों के बीच स्पष्ट समन्वय हो। सरकारी अभिकरणों का निरापद समन्वय तभी हो सकता है जब उसे लोकतन्त्री ढंग से निर्वाचित जन-प्रतिनिधियों के नियन्त्रण द्वारा प्राप्त किया जाये। इस तर्क का निष्ठा से पालन किया जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया, तो विकास कार्यक्रमों का लाभ मुट्ठीभर लोगों को होगा, जो प्रशासन और राजनीतिक तन्त्र के अपने प्रतिरूपों के साथ मिलकर लोगों के कूबड़ पर सवार होकर उनका कचूमर निकाल देंगे।"

ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी शत-प्रतिशत विफलता के दो मुख्य कारण हैं। एक तो है अपराध की सीमा को छूने वाली सरकार की उदासीनता और दूसरी है लोगों में उत्साह का अभाव। ऐसा विश्वास करने के कारण हैं कि हमारे शासक निहित स्वार्थ वाले विदेशियों के हाथों में देश की आर्थिक स्वाधीनता को बन्धक रखने या उसे बेचने के लिये तैयार हैं। ऐसा लगता है कि देश की निर्धन जनता के विरुद्ध भारतीय एकाधिकारियों, विदेशी पूँजीपतियों और भारत सरकार ने अपवित्र गठबन्धन कर लिया है। यह गठबन्धन हमारे राष्ट्रीय आत्मसम्मान और राष्ट्रीय प्रभुसत्ता पर भी कुठाराघात करता है। करोड़ों गरीबों के विरुद्ध उनके 'जेहाद' का अनिवार्य परिणाम यही होगा कि लोकतन्त्र ही ठप्प हो जायेगा।

किन्तु अन्तिम निष्कर्ष यह है कि जनता ही सरकार को बना या बिगाड़ सकती है। जनता को वैसी ही सरकार मिलती है जिसके वे पात्र हैं। और अयोग्य सरकार सत्ता में तभी तक बनी रह सकती है जब तक जनता अयोग्य बनी रहे। योग्य जनता और अयोग्य सरकार अधिक देर साथ-साथ नहीं चल सकते। अत: समस्या का सार तो इस बात में निहित है कि जन-साधारण की राष्ट्रीय चेतना

का स्तर कैसा है। यदि इस स्तर को ऊँचा उठाया जाता है, तो सरकार योग्य हो या अयोग्य, उसे राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण की प्रक्रिया के लिये लाभकर नीतियों तथा कार्यक्रमों का पालन करना होगा। इस चेतना के बिना कोई भी कार्यक्रम, नीति अथवा योजना सफल नहीं होगी।

अतः राष्ट्र-निर्माण का अदृश्य, पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और आधारभूत अधस्तन्त्र है ऐसी राष्ट्रीय चेतना का स्तर। जब तक यह आधारभूत रचनात्मक कार्य सम्पन्न नहीं किया जाता, तब तक अन्य सभी रचनात्मक कार्यों में विफलता ही हाथ आयेगी। अभी तक हमने उल्टी गंगा बहायी है। हमने आयोगों, समितियों, औपचारिक आयोजना, कार्यक्रमों, योजनाओं, संस्थाओं, रचनात्मक कार्य, ग्रामीण युवा का स्व-कार्ययोजन-प्रशिक्षण, परिचर्चाओं, गोष्ठियों आदि से श्रीगणेश किया है। पर जिससे वास्तव में श्रीगणेश करना था, उसकी ओर ध्यान नहीं दिया, अर्थात् हमने निर्माता का निर्माण नहीं किया है। जैसाकि श्रद्धेय श्री गुरुजी ने कहा है—

"हमारे वास्तविक राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन का श्रीगणेश 'मानव' के निर्माण से होना चाहिए। उसे इस प्रकार ढाला जाये कि उसमें ऐसी शक्ति का संचार हो जिससे वह मानवीय दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करके हिन्दू पौरुष का जीता-जागता गौरव-प्रतीक बन जाये। उसमें प्रेम, आत्मसंयम, त्याग, सेवा और उच्च चरित्र के हमारे सभी परम्परागत सद्गुणों का निवास हो। यह हमारी अन्तर्दृष्टि है, यह हमारे महिमा-मंडित राष्ट्रत्व का मूल मन्त्र है। हमें उसका अहर्निश जाप करना होगा। तभी हम विश्व-गुरु की मूल उच्च प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर सकेंगे।"

अतः हमें अपने पूर्वता-क्रम को बदलना होगा। हमें मानव-निर्माण कार्यक्रम को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी। हमें परम्परागत 'रचनात्मक कार्यों' का बस इतना विस्तार करना होगा कि हमें ऐसे 'सुघड़ मानव' मिल सकें। हमें हड़बड़ी से बचना होगा। हमें श्रद्धेय गुरुजी के इस कथन को हृदयंगम करना होगा, 'गति में तीव्रता लाओ, पर धीरे-धीरे।'

इसमें सन्देह नहीं कि हम जीतेंगे। किन्तु यदि अनुचित, विवेकशून्य शीघ्रता की गयी तो अन्तिम जीत की वह घड़ी देर से आयेगी।

हमारे प्राचीन राज्य के आर्थिक दायित्व

जहाँ राज्य-विहीन स्वशासी समाज भारतीय संस्कृति का आदर्श है, वहाँ आधुनिक भावार्थ वाला पूर्णतः 'मुक्त' उद्यम हमारी परम्पराओं से मेल नहीं खाता। जब तक औद्योगिक सम्बन्धों से सम्बद्ध विभिन्न पक्ष आध्यात्मिक रूप से उदात्त नहीं हो जाते, तब तक उनके कार्यों के विनियमन के लिये किसी बाह्य प्राधिकार की आवश्यकता पड़ेगी।

अन्यथा, जैसीकि कौटिल्य ने आशंका प्रकट की थी, कोई विनियमन न होने पर बड़ी मछली छोटी मछली को चट कर जायेगी।

औद्योगिक सम्बन्धों का विनियमन

सभी भारतीय विधिशास्त्रियों ने इस विषय पर सविस्तार चर्चा की है कि नियोजक-नियोजित का सम्बन्ध क्या हो और उसके विनियमन में सरकार की भूमिका क्या हो ? समय-समय पर उन्होंने यह विधान भी किया है कि राज्य और उसके कर्मचारियों के सम्बन्धों के बारे में क्या नियम हों ? प्रत्येक विधि-शास्त्री ने स्पष्ट रूप से यह भी बताया है कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य का सामान्य दायित्व क्या हो। श्री शीतलाप्रसाद मिश्र ने अपनी पुस्तक 'लेबर प्राब्लम्स इन ऐनशिएंट एण्ड मेडीवल इण्डिया' (प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारत की श्रम-समस्याएँ) में इस विषय का बड़ा सुन्दर निर्वाह किया है।

राज्य और श्रमिक-संघ

प्राचीन काल में श्रमिक और शिल्पी स्वयं उद्योगवार संघों या श्रेणियों का संगठन करते थे और सामान्यतः उनके नेताओं का प्रशासन पर प्रभाव होता था तथा प्रायः वे राज्य में उच्च पदों पर आसीन होते थे। ऐसे संघों के संघ 'निगम' कहलाते थे और देश के नागरिक तथा राजनीतिक जीवन में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। श्रमिक-संघ स्वशासित होते थे। बृहस्पति की सूचना के अनुसार संघ के सदस्यों के बारे में उसका निर्णय राज्य को स्वीकार करना पड़ता था; उन संघों का कार्य लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों पर चलता था; उनके अध्यक्षों से आशा की जाती थी कि वे विशेषज्ञ, सक्षम और विश्वासपात्र व्यक्ति हों; द्वेषवश यदि

संघ का अध्यक्ष किसी सदस्य को बाधा या हानि पहुँचाये तो राज्य का दायित्व था कि हस्तक्षेप करे और यदि संघ के अध्यक्ष और सदस्यों के बीच कोई विवाद उठ खड़ा हो तो राज्य का कर्तव्य होता था कि बीच-बचाव कराये।

सामाजिक सुरक्षा और बेकारी

प्राचीन राज्य नागरिकों के कष्टों के प्रति अपने कर्तव्य के बारे में सजग था। ह्वेनसांग के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके प्रवास-काल में राज्य और वैश्य समुदाय ने अनाथों, विधवाओं, निस्सन्तान व्यक्तियों, तथा अन्य असहाय नागरिकों के लिये दानशालाएँ और सुसज्जित औषधालय खोल रक्खे थे। कौटिल्य के अनुसार विधवाएँ, दीन बालाएँ, संन्यासिनें, वेश्याओं की बूढ़ी माताएँ, राजा की बूढ़ी दासियाँ और मन्दिर की परित्यक्ता दासियाँ बेकार नहीं रहने दी जाती थीं। उन्होंने व्यवस्था दी है कि उन्हें ऊन, छाल के रेशे, और सूत की कताई का काम दिया जाये (कौटिल्य २/२३/४१/२)। जो स्त्रियाँ अपना घर नहीं छोड़ सकती हों, अपने पति की अनुपस्थिति के कारण असहाय हों, जो बालाएँ अपंग हों, जो स्त्रियाँ अपनी जीविका की खोज में हों, उनके लिये व्यवस्था थी कि उन्हें कपड़ा उद्योग का अधीक्षक घर पर ही काम दे (कौटिल्य २/२३/४१/१२)। मृत कर्मचारी का पुत्र, वृद्ध, अवयस्क, अशक्त, पीड़ित, दरिद्र और गर्भवती महिलाएँ राज्य से आर्थिक सहायता पाने के पात्र थे (कौटिल्य ५/३/९१/२९-३१)। महाभारत (सभा पर्व १२४) राजा को निदेश देता है कि वह निराश्रितों और अपंगों की देखभाल करे।

कर्मकारों को सुविधाएँ

'प्राचीन भारत की आर्थिक दशा पर भाषणमाला' से उद्धरण देते हुए श्री मिश्र ने बताया है कि सरकार ने कर्मकारों से कर वसूल नहीं किया, क्योंकि वे सरकारी कर्मचारी थे। ह्वेनसांग का कथन है कि सरकार उदार थी। वह लोगों से बलात् श्रम नहीं कराती थी; वेतन के नियन्त्रित भुगतान पर काम कराया जाता था। सरकारी कर्मचारियों को पारिश्रमिक स्वरूप भूमि और श्रमिकों को भृति (वेतन) मिलती थी।

मेगस्थनीज़ के अनुसार राज्य श्रमिकों और शिल्पियों की सुरक्षा को प्राथमिकता देता था। उन्हें कर की छूट थी। आपातकाल में उन्हें राज्य से सहायता मिल सकती थी। उन्हें सरकार की ओर से अनेक अन्य सुविधाएँ प्राप्त थीं। जो नियोजक किसी शिल्पी के अंग को क्षति पहुँचाता था, उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था। अल बरूनी ने भी उल्लेख किया है कि कर्मचारियों की सुरक्षा और दुर्घटनाओं से उनके बचाव के लिये नियमित व्यवस्था थी।

कराधान के बदले काम

यह प्रथा थी कि करों के भुगतान के बदले राज्य की सेवा में अतिरिक्त कार्य किया जाये। वशिष्ठ ने शिल्पियों को निर्देश दिया है कि वे मास में एक दिन बिना वेतन के सरकारी काम करें। (वशिष्ठ स्मृति अध्याय १९)

गौतम ने शिल्पियों, श्रमिकों, नाविकों और रथवानों के लिये ऐसे ही नियम का विधान किया है (गौतम स्मृति अध्याय १०)। मेगस्थनीज़ ने भी राज्य के प्रति ऐसी अवैतनिक सेवा का उल्लेख किया है, किन्तु वह कहता है कि पोत तथा आयुध निर्माताओं को राज्य वेतन और भोजन देता था।

उद्योग पर निजी स्वामित्व नहीं

ऐसे उल्लेख हैं कि उद्योगों का प्रबन्ध-संचालन ग़ैर-सरकारी नागरिक नहीं करते थे। मौर्यकाल में नागरिक-मण्डल के अधीन कारखाने उच्च कोटि की सामग्री प्रयोग में लाते थे। वहाँ के कर्मचारियों को नगरपालिकाएँ उचित वेतन देती थीं। उसी काल में सरकारी व्यय पर खान खोदने और कारखानों को चलाने की प्रथा प्रारम्भ हुई। कहा जाता है कि विजयनगर साम्राज्य के अधीन सरकारी कारखानों में ५०० शिल्पी सोने और चाँदी के तारों का काम करते थे।

राज्य विनियामक : स्वामी नहीं

फिर भी इन उद्योगों के सम्बन्ध में राज्य की भूमिका संरक्षक की थी। राज्य वैश्यों के काम को हड़पने का प्रयास नहीं करता था, क्योंकि उससे तो वर्णाश्रम धर्म का उल्लंघन होता। प्राचीन भारत में राज्य का मुख्य धर्म औद्योगिक सम्बन्धों का विनियमन था। निजी उद्योगपति को कार्य की निरंकुश स्वाधीनता प्राप्त नहीं थी, किन्तु औद्योगिक कार्यों के विनियामक को स्वयं उद्योगपति बनने की अनुमति नहीं दी जाती थी। वर्णाश्रम धर्म प्रभावी रूप से देखता था कि राजनीतिक सत्ताधारी के हाथ में आर्थिक प्राधिकार का संकेन्द्रण न होने पाये।

हिंसा के द्वारा सामाजिक परिवर्तन

'हिंसा के द्वारा सामाजिक परिवर्तन' अपने आप में एक ऐसा विषय है जिसके बारे में लिखना और बोलना कठिन है। मेरे लिये तो यह और भी कठिन है, क्योंकि इस विषय का मैं पंडित नहीं हूँ। मैं केवल एक विद्यार्थी हूँ। फिर भी मुझे प्रसन्नता है कि मैं इस बारे में अपने विचारों का आदान-प्रदान आपके साथ कर सकूँगा कि हिंसात्मक साधनों से समाज-सुधार वांछनीय है या नहीं।

हम सब यह अनुभव करते हैं कि जगत् में कुछ भी स्थिर नहीं रहता है। 'जगद् गच्छति इति'—अर्थात् जो गतिशील है, वही जगत् है, संसार है। संसार की हर वस्तु संक्रमण की अवस्था में है। हर वस्तु के गर्भ में परिवर्तन पलता रहता है। समाज तो मानव-प्रयास का एक पक्ष मात्र है। अत: यह आवश्यक है कि सामाजिक नियम और रूढ़ियाँ भी परिवर्तनशील समय और आवश्यकता के अनुसार बदलती रहें। अलग-अलग परिस्थिति और काल में अलग-अलग नीति और समाधान आवश्यक होते हैं। पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नयी तो आनी ही चाहिए, पर ऐसा न हो कि कोई 'अच्छी' रूढ़ि संसार को भ्रष्ट कर दे; अर्थात् आज की 'अच्छी' रूढ़ियाँ भी बदली हुई परिस्थितियों के सन्दर्भ में बुरी सिद्ध हो सकती हैं। उदाहरणार्थ—कभी जाति-प्रथा ने समाज को स्वस्थ विकास का आधार प्रदान किया था, पर आज वह उसके लिये हलाहल है। उसे समाप्त करना चाहिए। वही स्थिति बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व की है।

किन्तु समाज-सुधार का जो भी स्वरूप हो, हमें यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि वह सार्वजनीन, सनातन और अकाट्य नियम की परिधि में ही हो। यह नियम है नैतिकता का नियम। वह सदा-सर्वदा सर्वत्र मंगलकारी होता है। चाहे व्यक्तिगत हो, सामाजिक हो, या राजनीतिक हो, हर स्तर पर नैतिकता के बिना जीना दूभर हो जाता है। अत: सभी विवरण, यथा—व्यक्ति का व्यक्ति से सम्बन्ध, आचरण-संहिता आदि, इस सर्व मंगलकारी नियम को ध्यान में रखते हुए तैयार किये जाने चाहिए। परिवर्तन तो वांछनीय है। उसके बारे में कोई सन्देह नहीं।

तथापि, स्वाभाविक है कि परिवर्तनों और सुधारों के बारे में कुछ प्रश्न उठें। कौन से परिवर्तन वांछनीय हैं ? यह कौन निश्चित करेगा कि कोई परिवर्तन

आवश्यक है भी या नहीं ? किसी सुधार को लागू करने के लिये कौन से साधन अपनाने चाहिए ? इन महत्त्व के प्रश्नों को केवल जनमत के आधार पर हल करना तो गलत होगा। निश्चय ही जनमत किसी सुधार की सफलता के निर्धारण में प्रमुख तत्त्व है, पर उसकी अपनी सीमाएँ हैं। वह सदा ही प्रबुद्ध नहीं होता और निहित स्वार्थों की जोड़-तोड़ का शिकार हो सकता है।

जनमत की लहर के आधार पर यह निश्चित नहीं किया जाना चाहिए कि परिवर्तन-विशेष वांछनीय है या नहीं। प्रचार ऐसा सशक्त अस्त्र है कि जनमत को किधर भी मोड़ा जा सकता है। हिटलर कहा करता था कि सशक्त प्रचार तो इतना समर्थ है कि समूचे राष्ट्र को सामूहिक रूप से आत्महत्या के लिये प्रवृत्त कर दे।

'लोकतंत्र' बहुत अच्छा है, पर जन-साधारण से ऐसे महत्त्व के प्रश्नों को हल कराना वैसा ही है जैसे संसदीय समिति से 'गोदान' की रचना करने के लिये कहना। तो फिर इन प्रश्नों का उतर पाने के लिये कसौटी क्या होनी चाहिए ? प्राचीन काल में हमारे देश में ऐसे नेता हुआ करते थे जो शिक्षित थे और आध्यात्मिक दृष्टि से परिपक्व थे। समाज और उसकी समस्याओं के बारे में उनका दृष्टिकोण समेकित था। वे दलबन्दी और व्यक्तिगत लाभ से परे थे। वे निःस्वार्थ थे। उनकी मनःस्थिति इतनी उच्च होती थी कि वे समूचे समाज को अपना परिवार समझते थे। जब भी ऐसा लगता था कि कुछ परिवर्तन होना चाहिए तो नैतिकता में पगे समाज के इन नेताओं को एकत्र किया जाता था। वे तटस्थ और निष्पक्ष भाव से समग्र रूप से सामाजिक स्थिति के सभी पक्षों पर विचार करते थे और निर्णय देते थे कि अमुक परिवर्तन होना चाहिए। उच्च नैतिकता वाले ऐसे नेताओं के अभाव में कहना कठिन है कि सामाजिक परिवर्तन के बारे में किसके परामर्श को प्रामाणिक माना जाये। आज ऐसे नेतृत्व का अभाव है। उसी के फलस्वरूप ये सारी कठिनाइयाँ हैं।

फिर भी, दहेज, सम्प्रदायवाद, छुआछूत जैसी कुछ सामाजिक बुराइयाँ हैं जो प्रत्यक्ष हैं। उनके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं। सभी चाहते हैं कि उनसे पिंड छुड़ाया जाये। किन्तु हमें अधैर्य और अति-उत्साह से भी सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि बहुधा ये हिंसा का रूप धारण कर लेते हैं। कभी-कभी हिंसा अपरिहार्य और कभी उचित भी होती है तथा बिरली स्थिति में तो अनुशंसनीय भी —जैसे कि कुरुक्षेत्र का युद्ध। किन्तु हिंसा के इस अस्त्र का प्रयोग करने में कौन सक्षम है ? क्योंकि हर प्रकार की हिंसा समाज के लिये न तो बोधगम्य होती है और न ही स्वीकार्य। केवल वे ही नेता इसकी संस्तुति कर सकते हैं जिनका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता, जो तटस्थ भाव से 'लोक-संग्रह' के लिये उसका प्रयोग करते हैं। तभी हिंसा शल्य-चिकित्सक के शस्त्र की भाँति लाभकारी हो सकती है। जब भगवान कृष्ण ने अर्जुन को हथियार उठाने के लिये कहा था तो साथ ही यह

भी उपदेश दिया था, "सुख-दु:खे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ; ततो युद्धाय युज्यस्व···" सुख, दु:ख, लाभ, अलाभ, जय, पराजय के प्रति समभाव रखते हुए, हे अर्जुन, युद्ध के लिये तत्पर हो जाओ। अतः यदि कोई कर्तव्य की भावना से युद्ध करता है, सुख, दु:ख, सफलता, असफलता, लाभ, हानि की परवाह नहीं करता, तो उसे पाप नहीं लगेगा। अन्यथा वह पाप का भागी होगा। युद्ध के लिये प्रोत्साहित करते समय भगवान ने अर्जुन को यही उपदेश दिया था। हमारा इतिहास ऐसे महापुरुषों से भरा पड़ा है, जैसे—शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह आदि।

किन्तु अधिकांशत: हिंसा का औचित्य नहीं होता, भले ही उसका लक्ष्य कितना भी महान क्यों न हो। क्योंकि, पहली बात तो यह है कि प्राय: यह आत्मघाती सिद्ध होती है। क्रान्ति सदा अपने पहले बच्चे को ही खा जाती है। जो लोग क्रान्ति का बीड़ा उठाते हैं, क्रान्ति के बाद शासक वर्ग सामान्यत: उन्हें ही मौत के घाट उतार देता है। हिंसापूर्ण क्रान्तियों का अनुभव कभी भी अधिक सुखद नहीं रहा है। दूसरे, उसकी वृत्ति रहती है कि स्वयं को अमरत्व प्रदान करे, भले ही भिन्न परिस्थितियों में। तो इसमें आश्चर्य क्या है कि पश्चिमी देशों के कम्युनिस्ट दल 'हिंसा के द्वारा सामाजिक क्रान्ति' की अपनी अभिधारणा पर पुनर्विचार कर रहे हैं?

यदि राजनीतिक क्षेत्र में हिंसा के लिये 'औचित्य' हो सकता है तो सामाजिक क्षेत्र में क्यों नहीं हो सकता? हर समाज में मतभेद तो रहेंगे ही। यदि ऐसे मतभेदों को दूर करने के लिये हिंसा का सहारा लिया गया तो अनिवार्यत: गृहयुद्ध भड़केगा। ऐसे युद्ध के भयंकर परिणामों की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।

यदि समाज को बचाना है तो हिंसा के लोभ का संवरण करना होगा। सभी परिवर्तनों और सुधारों के लिये अहिंसक उपायों की शरण लेनी होगी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि सभी नैतिक तथा आध्यात्मिक नेताओं को एकत्र किया जाये और समाज उनसे सही दिशा में मार्गदर्शन प्राप्त करे। स्वस्थ समाज के निर्माण में विधान भी सहायक हो सकता है, किन्तु तभी, जब लोगों को पहले समुचित शिक्षा दी जाये।

हमें यह समझ लेना है कि उत्कर्ष वाले परिवर्तन की गति अनिवार्यत: धीमी और क्रमिक होती है। इसके लिये शिक्षा और प्रेरणा तो चाहिए ही, असीम धैर्य भी अत्यावश्यक होगा।

समितियाँ और सूचियाँ किसलिये ?

जनता पार्टी ने अपने चुनाव घोषणापत्र में वेतन, मूल्य और आय सम्बन्धी नीति का विवेचन करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था—

१. श्रमिक वर्ग और कृषि-श्रमिक सम्बन्धी वेतन (पारिश्रमिक) नीति का आधार होगा आवश्यकता पर आधारित न्यूनतम वेतन;
२. उत्पादकता में वृद्धि-लाभ का सारवान अंश श्रमिकों को मिलना चाहिए;
३. मूल्य-वृद्धि को महँगाई भत्ते द्वारा पूर्णतया निष्प्रभावी किया जायेगा; और
४. दस वर्षों में देश में आय की विषमता को घटाकर १ : २० और उससे अगले दस वर्षों में १:१० कर दिया जायेगा।

किसी समिति की नियुक्ति के बिना भी कुछ उपाय तो तत्काल किये जा सकते थे; यथा—आवश्यकता पर आधारित न्यूनतम वेतन की मात्रा को आँकना। इसका निर्वाह-मूल्यसूचकांक से सीधा सम्बन्ध है।

अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि सूचकांक वैज्ञानिक ढंग से पुन: तैयार किया जाना चाहिए। किन्तु उसमें अधिक समय नहीं लगता।

अत: आवश्यकता पर आधारित वेतन की दर निर्धारित करने के लिये किसी नाम-सूची की आवश्यकता नहीं है।

वर्तमान वेतन-स्तर आवश्यकता पर आधारित न्यूनतम स्तर से बहुत कम है।

हैदराबाद स्थित समन्वय-समिति ने १ जनवरी, १९७७ को तत्कालीन मूल्य ढाँचे को ध्यान में रखते हुए न्यूनतम वेतन की मात्रा निकाली है।

समिति ने इस प्रयोजन के लिये मान लिया है कि एक औसत श्रमिक के परिवार में वह स्वयं, उसकी पत्नी और दो बच्चे होंगे। हम जानते हैं कि औसत श्रमिक-परिवार में ५ से कम इकाइयाँ नहीं होतीं।

फिर भी समिति के आँकड़े इस प्रकार हैं—

१. भोजन सम्बन्धी आवश्यकताएँ	३००.०० रु०
२. कपड़ा	१२०.०० रु०
३. अन्य व्यय	२१०.०० रु०
	कुल ६३०.०० रु०

उद्यम की उत्पादकता-वृद्धि में श्रमिकों का अंश निर्धारित करने के लिये किसी समिति की आवश्यकता नहीं है। विशेष रूप से उन सरकारी उद्यमों के बारे में तो ऐसे निर्धारण की आवश्यकता है ही नहीं, जिनकी उत्पादकता-वृद्धि का निर्धारण पिछली सहमति (एग्रीमेंट) के बाद हो चुका है।

जहाँ पूरी तरह समेकित ढंग से मूल्य-नीति के निर्धारण में कुछ समय लग सकता है, वहाँ कुछ उपाय तो तत्काल किये जा सकते हैं। उनके लिये ऐसी नीति के निर्धारण की प्रतीक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं। उपाय ये हैं—

१. जिन वस्तुओं की कमी है, उनके निर्यात पर प्रतिबन्ध;

२. जन-समितियों की देखरेख में प्रभावी सार्वजनिक वितरण-प्रणाली;

३. आवश्यक वस्तुओं के प्रतिरोधी भण्डार; और

४. ठोस आयात-नीति।

अन्तरराष्ट्रीय श्रम-संगठन के दल ने कीनिया सरकार को मूल्य-नियन्त्रण की जिस योजना का सुझाव दिया था, उसका भी अध्ययन किया जाना चाहिए। दल ने कुछ सुझाव दिये थे। विशेष रूप से उसने समुचित शक्ति वाली मूल्य-समीक्षा समिति की स्थापना का सुझाव दिया था। उन्हें हम अपने देश में कुछ फेर-बदल करके अपना सकते हैं।

वित्त मन्त्रालय की अधिसूचना, दिनांक १३ अक्तूबर, १९७७ में केवल उन 'गम्भीर विकृतियों' का उल्लेख किया गया है जो सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्र में कर्मचारियों के वेतन, महँगाई भत्ते तथा अन्य प्रतिपूरक भत्तों के ढाँचे में आ गयी हैं। उसमें कृषि-क्षेत्र में अल्प आय का भी उल्लेख है।

उसमें इस बात का कोई उल्लेख नहीं कि समूचे देश में आय की कैसी विषमता है; एक भूमिहीन श्रमिक की आय और टाटा-बिड़ला घरानों की आय में कितनी विषमता है।

सत्तारूढ़ दल (तब) के चुनाव घोषणा-पत्र में निर्धारित १ : २० का अनुपात देश में न्यूनतम और अधिकतम आय से सम्बन्धित है। यह अनुपात वेतन पर निर्वाह करने वालों का नहीं है। 'पैनल' के निर्देश-पदों में इस अनुपात का उल्लेख नहीं है।

घोषणापत्र में १ : २० के अनुपात का उल्लेख किया गया है। यह तो समझ में आता है कि उसे वास्तविक मात्रारूप देने में समय लगेगा, किन्तु कुछ उपाय तत्काल किये जा सकते हैं और किये भी जाने चाहिए ताकि इस अनुपात को प्राप्त करने की दिशा में प्रगति हो सके। इसके लिये किसी समिति के गठन की आवश्यकता नहीं।

उदाहरणार्थ, सरकार चाहे तो तुरन्त प्रबन्धक-वर्ग की परिलब्धियों और भत्तों की अधिकतम सीमा निश्चित कर सकती है। ऐसा करने से उसे कौन रोकता है?

एकाधिकारों पर अंकुश लगाने और उनके उन्मूलन के बारे में निर्णय राजनीतिक स्तर पर ही किये जाने चाहिए। उसके लिये किसी समिति की संस्तुति आवश्यक नहीं है।

श्रम-जन्य आय को सरलता से विनियमित किया जा सकता है, सम्पत्ति-जन्य आय को नहीं। निर्धनता के महासागर के बीच से धनाढ्यता के टापुओं को समाप्त करने के लिये राजनीतिक निर्णय की अपेक्षा है। केवल न्यूनतम और अधिकतम आय के बीच की विषमता को घटाकर अंश (शेयर) सम्बन्धी विषमता को कम नहीं किया जा सकता।

इसके लिये यह आवश्यक है कि इस चरण में भी नीति-निर्माताओं के मस्तिष्क में निजी सम्पत्ति के अधिकार के बारे में स्पष्ट संकल्पना हो।

यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि हर व्यक्ति को उतनी सम्पत्ति रखने का मूल अधिकार है, जो उसकी जीविका के लिये पर्याप्त हो। जीविका के साधनों का मूल अधिकार होना ही चाहिए। किन्तु ऐसी किसी सम्पत्ति को, जो जीविका के साधनों के अतिरिक्त हो, उसी श्रेणी में नहीं रक्खा जा सकता, क्योंकि उससे दूसरों का शोषण किया जा सकता है।

यदि इस सम्बन्ध में किसी ठोस नीति का निर्धारण करना है तो पहली शर्त यह है कि हमारा इस बारे में मतैक्य हो।

निर्धारित अनुपात केवल वित्तीय, आर्थिक तथा अन्य उपायों के सहारे ही प्राप्त नहीं किया जा सकता, अतः इस प्रयोजन के लिये संविधान में समुचित संशोधन करना ही होगा।

जब तक हमारे नीति-निर्माता इस बारे में निश्चय नहीं कर लेते, तब तक इस प्रसंग में कोई भी 'पैनल' या समिति की नियुक्ति निरर्थक सिद्ध होगी।

संगत प्रश्न यह है कि क्या उन्होंने अपने मन में निश्चय कर लिया है ?

तात्कालिक उपाय के रूप में सरकार वेतन-वृद्धि पर पूर्ण विराम लगाने की बात सोच रही है। ब्रिटेन का अनुभव बताता है कि वेतन-वृद्धि पर पूर्ण विराम की नीति केवल संकटकाल में ही खप सकती है। वह दस वर्षों तक नहीं चल सकती। और यदि हम अधिक से अधिक आशा के सपने भी बुन लें तो भी यह प्रतीति नहीं होती कि दस वर्ष के भीतर हम पूर्ण सेवायोजन के लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेंगे। इतने लम्बे समय तक वेतन-वृद्धि पर पूर्ण विराम लगाना असम्भव है। उसके भयंकर दुष्परिणाम निकल सकते हैं। न्याय का तकाजा है कि वेतन-वृद्धि पर पूर्ण विराम के साथ-साथ लाभांशों पर भी पूर्ण विराम लगाना चाहिए।

क्या सरकार लाभांशों पर पूर्ण विराम लगाने के लिये तैयार है ?

सामान्यतः श्रमिकों पर होने वाले व्यय का प्रतिशत समूचे व्यय की तुलना में अल्प है। यह इस दुष्प्रचार को झूठा सिद्ध करता है कि औद्योगिक श्रमिक

भारी वेतन के रूप में राष्ट्र के रक्त को पीकर दिनोंदिन मोटा होता जा रहा है।

औद्योगिक अशान्ति से होने वाली उत्पादन की हानि सामान्यत: अल्प सी होती है। उत्पादन की हानि अथवा अधिष्ठापित क्षमता के अल्प उपभोग के मुख्य कारण कुछ और ही हैं। वे हैं—

१. कच्चे माल की अनुपलब्धि और घटिया होना;

२. माँग की कमी;

३. सन्तुलनकारी उपकरण का अभाव;

४. विद्युत् शक्ति की कमी और उसका बन्द होना;

५. यन्त्रों की खराबी;

६. प्रबन्ध की त्रुटियाँ; और

७. प्रबन्धकों के विभिन्न धड़ों के बीच और विभिन्न नियोजकों के बीच होड़।

किसी अन्य के दोष के लिये श्रमिक को बलि का बकरा बनाने का कोई औचित्य नहीं है।

इससे पूर्व कि किसी 'पैनल' की नियुक्ति की जाये, यह आवश्यक है कि कतिपय विधान लागू करके पृष्ठभूमि तैयार की जाये।

उदाहरण के लिये, किसी भी विचारशील व्यक्ति की समझ में यह बात आनी चाहिए कि आय, वेतन और मूल्य के बारे में अलग से राष्ट्रीय नीति नहीं बनायी जा सकती। उसके लिये साथ-साथ और समेकित रूप से सेवायोजन और उत्पादकता के बारे में भी राष्ट्रीय नीति निर्धारित करनी होगी।

जब तक ग्रामीण क्षेत्रों में पूर्ण आजीविका की व्यवस्था नहीं होगी, तब तक कृषि-श्रमिकों, बुनकरों, बीड़ी बनाने वालों तथा अन्य दुर्बल वर्गों के कल्याणार्थ न्यूनतम वेतन अधिनियम को कार्यरूप देना सम्भव नहीं होगा।

इन वर्गों की वर्तमान दशा नितान्त शोचनीय और दयनीय है।

बेकारी अनुमान सम्बन्धी विशेषज्ञ समिति (१९६८) की संस्तुतियों के अनुसार राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण विभाग ने १९७२-७३ में श्रम-शक्ति के बारे में एक व्यापक सर्वेक्षण किया था। इस सर्वेक्षण के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में एक वर्ष में लगभग ५ अरब कार्य-दिवसों पर काम नहीं मिला। यह लगभग २ करोड़ १० लाख व्यक्तियों के पूर्णतया बेकार रहने के बराबर है।

एक अनुमान के अनुसार कृषि-श्रमिकों और कृषि में फालतू श्रमिकों की संख्या साढ़े सात करोड़ थी।

इसका अर्थ है कि हमें गाँवों में तत्काल साढ़े सात करोड़ लोगों के लिये धन्धे की व्यवस्था करनी होगी। आज कृषि-श्रमिकों की संख्या चार करोड़ सत्तर-अस्सी लाख है।

बँटाई पर खेती करने वाले भी निर्धन ग्रामीण हैं, पर उनकी संख्या उपलब्ध नहीं है। १९७१ में किसानों की संख्या सात करोड़ इक्यासी लाख सत्तर हजार थी। उनमें अधिक लोग बँटाई वाले थे।

ग्रामीण भारत में ३·९३ प्रतिशत परिवारों के पास ३०·८८ प्रतिशत कृषि-योग्य भूमि है और ५०·६२ प्रतिशत परिवारों के पास ८·९७ प्रतिशत भूमि है। इसमें भी उनके अधिकांश खेत अलाभकर हैं।

देहातों का निर्धन पूर्णतया अपने भू-स्वामी की दया पर आश्रित है। उसका भू-स्वामी उसका सेवायोजक भी है, महाजन भी और संरक्षक भी। उसका जीवन भू-स्वामी की मुट्ठी में है।

गाँव वाले अभी भी ऋण लेने की व्याधि में डूबे हैं और बंधुआ मजदूर प्रथा अब भी चल रही है।

ग्रामीण निर्धन के पारिश्रमिक (मजदूरी) का स्तर क्या है ? १९७०-७१ में राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के २५वें सर्वेक्षण के अनुसार कृषि मजदूरी उड़ीसा, आन्ध्र, कर्नाटक और महाराष्ट्र में २ रुपये प्रतिदिन से भी कम थी और मध्य प्रदेश में वह डेढ़ रुपया प्रतिदिन थी।

बीड़ी बनाने वालों की दशा भी इन क्षेत्रों में भिन्न नहीं है।

१९७४ में तमिलनाडु कृषि विश्वविद्यालय ने 'तमिलनाडु के चुने हुए क्षेत्रों में श्रम-सदुपयोग, वेतन ढाँचे और श्रम-उत्पादकता के प्रतिरूप' नामक अध्ययन पूरा किया।

चार चुने हुए जिलों में समग्र दैनिक वेतन चिंगलपुट में २·८८ रुपये से लेकर सलेम जिले में ३·५० रुपये तक था। पश्चिमी बंगाल सरकार के श्रम विभाग ने १९७४ में ६ जिलों के सर्वेक्षण के बाद विचार प्रकट किया, "जब परिवार के औसत आकार के सन्दर्भ में इस अति अल्प दैनिक आय का मूल्यांकन किया जाता है तो वास्तव में समझ नहीं आता कि वे किस प्रकार अपने जीवन की गाड़ी खींच रहे हैं।"

बाँकुरा जिले के बारे में प्रतिवेदन में कहा गया है, "यह तथ्य कि वह, अर्थात् कृषि-कर्मी, अभी है, एक चमत्कार ही है।"

कलकत्ता महानगर विकास प्राधिकरण के एक सर्वेक्षण के अनुसार १९७५ में लगभग २,००,००० लोग पटरियों पर रहते थे और इन पटरीवासियों में से ५६ प्रतिशत लोगों की आय ८० रुपये प्रति मास से भी कम थी।

विशेषज्ञों के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र में बेकारी से कहीं अधिक विकटता अल्प कार्य की है। वनवासी क्षेत्रों में यह समस्या और भी विकट है जहाँ सबसे कम पारिश्रमिक मिलता है।

क्या हमारे पास बेकारी और अल्प सेवायोजन की व्यापकता के बारे में सही आँकड़े हैं ? जो भी आँकड़े उपलब्ध हैं, वे उतने ही अविश्वसनीय और अवास्तविक हैं, जितने कि बड़े औद्योगिक घरानों की सम्पदा और आय के आँकड़े हैं। दोनों के बारे में प्रकाशित आँकड़ों का सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रथम तीन योजनाओं के प्रलेखों में बेकारी और अल्प सेवायोजन के बारे में सम्बद्ध आँकड़े देने के बाद चौथी योजना के प्रलेख इनके आँकड़े देने के बारे में अकस्मात मौन हो गये।

बेकारी अनुमान सम्बन्धी विशेषज्ञ समिति ने १९६८ में कहा था, "किसी योजनावधि के प्रारम्भ अथवा अन्त में श्रम-शक्ति, अतिरिक्त सेवायोजन-क्षमता के प्रजनन और बेकारी के बारे में एकांगी रूप से प्रस्तुत अनुमान न तो सार्थक हैं और न ही आर्थिक स्थिति के उपयोगी द्योतक हैं। योजना आयोग द्वारा अपनायी गयी उस पद्धति को छोड़ा जा सकता है।"

चूंकि सही निदान आधा उपचार है, अतः नयी सरकार का प्रथम पग यह होना चाहिए था कि बेकारी और अल्प सेवायोजन को आँकने के लिये सही पद्धति का विकास करती। इसके लिये 'भूतलिंगम पैनल' जैसी किसी समिति के गठन की कोई आवश्यकता नहीं थी।

और इस प्रारम्भिक कार्य के बिना कोई भी 'पैनल' सौंपे गये काम को वैज्ञानिक रीति से आगे नहीं बढ़ा सकता। क्या डॉ० शूमैकर की 'उपयुक्त' प्रौद्योगिकी का विकास भूतलिंगम की अनुशंसा पर निर्भर है ?

यह कहना उचित ही होगा कि नयी सरकार ने यह साहस भरा निर्णय लिया है कि कृषि के लिये ४० प्रतिशत आबंटन किया जाये और ग्रामीण क्षेत्रों में श्रम-प्रधान कुटीर तथा लघु उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाये।

किन्तु इस बात की क्या 'गारण्टी' है कि इस आबंटन का लाभ गाँवों के धनी वर्ग की जेब में नहीं जायेगा, जैसा कि हरित क्रान्ति के प्रसंग में हुआ था, और लघु उद्योग बेनामी विनिमय की आड़ में चोरी-छिपे बड़े पूँजीपतियों को ग्रामीण क्षेत्रों में नहीं लायेंगे ? इस प्रजोजन के लिये उपयुक्त प्रौद्योगिकी के विकास हेतु क्या प्रयास प्रारम्भ किये गये हैं ?

पुनः यह प्रश्न इस समस्या से जुड़ा है कि विदेशी पूंजी के प्रति सरकार का मनोभाव क्या है ? क्या सरकार इस बात के लिये तत्पर है कि सभी विदेशी पूंजी का राष्ट्रीयकरण या भारतीयकरण कर दे, विदेशी सहयोग की सभी संविदाओं से निबन्धनकारी खण्ड निकाल दे और बहुराष्ट्रिकों से कह दे कि सहयोग-संस्थाओं की साम्य-पूंजी में उनका कोई अंश नहीं होगा ? उनका अंश उत्पाद में हो सकता है, साम्य-पूंजी में नहीं। क्या सरकार इसके लिये तैयार है ? या वह चाहती है कि भूतलिंगम उसे इस बारे में परामर्श दें ? क्या वह इसके लिये सक्षम हैं ?

मजदूर संघ आन्दोलन को विस्तृत आधार चाहिए

क्या वर्तमान श्रमिक (मजदूर) संघ आन्दोलन समूचे श्रमिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करना चाहता है ? क्या वास्तव में कहा जा सकता है कि वह देश के सभी दलितों, निर्धनों और शोषितों का संरक्षक है ?

हमारे श्रमिक-संघों का ध्यान मुख्यतः संगठित उद्योगों के श्रमिकों की दशा की ओर गया है। यह स्वाभाविक है और इस आधार पर उचित भी है कि उसकी आवश्यकता, व्यावहारिकता और उपयोगिता है। ये उद्योग श्रम-शक्ति का संकेन्द्रण कराते हैं जो श्रमिक-संघवाद के विकास में सहायक होता है। किन्तु जो उद्योग तथा व्यवसाय उतने संगठित नहीं हैं, उनमें श्रमिक-संगठन की और भी अधिक आवश्यकता है। यह विषम स्थिति है। जिन्हें अधिक संरक्षण की आवश्यकता है, उन्हें श्रमिक-संघवाद अथवा विधान का तनिक भी संरक्षण प्राप्त नहीं है।

नगर-क्षेत्रों में भारी संख्या में श्रमिकों को संरक्षण प्राप्त नहीं है, यथा— मछुआरे, नमक बनाने वाले श्रमिक, मथाडी, हमाल, लोखंडी, जत्था श्रमिक, मुकदम के अधीन उजरती काम करने वाले, तुलाईवाल आदि जो लोहे तथा इस्पात की मंडियों या दुकानों में, कपड़े या कपास की मंडी या दुकानों में, गोदियों में, किराना मंडियों या दुकानों में, सामान्य मंडियों और प्रतिष्ठानों में, रेलवे यार्डों और माल गोदामों में, सार्वजनिक परिवहन-वाहनों में, गोदामों में, सब्जी मंडियों आदि में सामान लादने, उतारने, चट्टा लगाने, ले जाने, तोलने अथवा इनकी तैयारी के कामों और बीच-बीच में आ पड़ने वाले कामों के लिये नियुक्त हैं। निस्सन्देह महाराष्ट्र राज्य सरकार ने इस दिशा में पहल की है और उनके कल्याण के लिये 'महाराष्ट्र मथाडी, हमाल तथा शारीरिक श्रम वाले अन्य श्रमिक (सेवा नियोजन तथा कल्याण का विनियमन) अधिनियम, १९६८' बनाया है, किन्तु अन्य राज्यों में उन्हें अभी संरक्षण प्राप्त नहीं है और इस क्षेत्र में श्रमिक-संघ भी विरल तथा दुर्बल हैं।

रेलवे, लोक-निर्माण विभागों, सिंचाई विभागों, परिवहन निगमों, राज्य विद्युत् निगमों, निर्माण-कार्यों, अभियान्त्रिकीय उपक्रमों, केन्द्र तथा राज्य सरकारों

के विभागों, पत्तनों तथा गोदियों आदि में काम करने वाले दैनिक श्रमिकों के प्रति भी उदासीनता बरती जा रही है, जबकि इनमें से अधिकांश प्रतिष्ठानों के श्रमिकों के अपने श्रमिक-संघ हैं। इनमें से अधिकांश में स्थायी आदेशों में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि प्रतिष्ठान की सामान्य श्रमिक-संख्या की तुलना में दैनिक श्रमिकों की संख्या कितनी होगी। दैनिक श्रमिक को नियमित करने की प्रक्रिया का भी कठोरता से पालन नहीं किया जा रहा है। वास्तव में, यदि अल्प अवधि के लिये सेवानियोजन समाप्त कर दिया जाये और श्रमिक को पुन: काम पर लगाया जाये, तो इस अल्प अवधि को सेवा में व्यवधान न माना जाय और जब दैनिक श्रमिक सेवा की नियत अवधि पूरी कर ले, उसके बाद उसे वे ही लाभ दिये जायें जो स्थायी श्रमिक को दिये जाते हैं। जब तक दैनिक श्रमिक की सेवा नियमित न हो जाये, तब तक उनकी काम की शर्तों का और अच्छा विनियमन होना चाहिए।

निर्माण में लगे श्रमिकों के साथ विशेष रूप से अनियमितताएँ बरती जाती हैं और उनसे अमानवीय व्यवहार किया जाता है। 'उचित वेतन खण्ड' कठोरता से लागू नहीं किया जा रहा है और समय-समय पर उचित पारिश्रमिक की कोई समीक्षा नहीं होती है। सामान्यत: ऐसी उपस्थिति-पंजियाँ नहीं रखी जाती हैं जिनमें सभी निर्माण-श्रमिकों के स्थायी स्थानीय पते लिखे हों। आवश्यकता इस बात की है कि उनके लिये विनियमन और संरक्षण प्रदान करने वाले विधान बनाये जायें, समुचित वैधानिक प्रवर्तन-तन्त्र की स्थापना की जाये, और कदाचार के प्रसंगों में ठेकेदारों, उप-ठेकेदारों, श्रमिकों के ठेकेदारों आदि के लिये कठोर और सीख देने वाले दण्ड की व्यवस्था की जाये। निर्माण-कार्यरत ठेकेदारों का वर्गीकरण और पंजीकरण होना चाहिए। सरकारी उपक्रमों में चालू कार्यक्रमों की इस प्रकार समुचित आयोजना की जाये कि वहाँ काम और सेवायोजन का समुचित सुस्थिर प्रवाह बना रहे। वहाँ श्रमिकों के लिये निर्माण-स्थलों पर चलते-फिरते घरों की व्यवस्था की जाये।

समग्र रूप से हमारा श्रमिक-संघ आन्दोलन वन-श्रमिकों की ओर भी ध्यान नहीं दे रहा है। उनमें फालतू भूमि बाँटी जाये, उन्हें ऋण से छुटकारा दिलाया जाये, उन्हें न्यूनतम वेतन अधिनियम का संरक्षण दिया जाये, उन्हें वन-सेवाओं अर्थात् वन-रक्षकों, चौकीदारों आदि की सेवाओं में प्राथमिकता दी जाये; वन क्षेत्रों में उनके परम्परागत अधिकारों के परिरक्षण और पुन: प्राप्ति तथा सुविधाओं के प्रयोजन से गैर-सरकारी वन क्षेत्रों को सरकारी वन क्षेत्रों के समान समझा जाये। वन-आधारित उद्योगों का परिचालन किया जाये और उन्हें प्रोत्साहन दिया जाये। वन श्रमिक सहकारी समितियों को ठेकेदारों और वन-अधिकारियों की जालसाजी से बचाया जाये। वन श्रमिक समितियों के प्रबन्ध के लिये

सहकारी निगमों के गठन को प्रोत्साहन दिया जाये। सहकारी विधानों, नियमों और विनियमों को सरल बनाया जाये। 'विकास' के नाम पर उजाड़े गये वनवासियों के पुनर्वास की तुरन्त व्यवस्था की जाये। पहले ही स्वीकृत संस्तुतियों पर कठोरता से कार्यवाही करने के लिये केन्द्र तथा राज्य के स्तरों पर तन्त्र की स्थापना की जाये। अन्य बातों के अतिरिक्त ये कुछ ऐसे उपाय हैं जो उनके संरक्षण के लिये होने चाहिए। उनमें जो 'गोठी' 'पालेमोड' जैसी असामाजिक पद्धतियाँ प्रचलित हैं, उन्हें समाप्त किया जाना चाहिए। भले ही यह दायित्व सामाजिक स्वरूप का है, पर इसका भार हमारे मानवतावादी श्रमिकसंघों के कन्धों पर होना चाहिए।

और फिर घूमन्तू तथा अर्द्ध घूमन्तू जातियों (भूतपूर्व 'जरायमपेशा') के, जिन्हें 'अनधिसूचित जातियाँ' भी कहा गया है, सामाजिक-आर्थिक उत्थान का दायित्व कौन लेगा ? संविधान ने अनुसूचित जातियों को जो संरक्षण और सुविधाएँ प्रदान की हैं, वे इन 'अनधिसूचित जातियों' पर लागू नहीं की गयी हैं। उनकी समस्या आंशिक रूप से सामाजिक है। सामाजिक समस्या को आर्थिक से अलग करना व्यावहारिक नहीं होगा। उनके कल्याण के लिये जो संस्थाएँ संगठित की गयी हैं, वे पर्याप्त शक्तिशाली नहीं हैं।

नगर तथा ग्रामीण क्षेत्रों में परम्परागत शिल्पी कहने के लिये तो 'कर्मकार' हैं, किन्तु विधान की दृष्टि से वे कर्मकार नहीं हैं, क्योंकि ने अपना धन्धा करते हैं, वैतनिक काम नहीं। उनके कल्याण के लिये यह आवश्यक है कि उनके लिये स्वदेशी प्रौद्योगिकी का विकास किया जाये और बिक्री के लिये सहकारी समितियाँ संगठित की जायें। औद्योगिक श्रमिकों के लिये श्रमिक-संघों का जो महत्त्व है, वही महत्त्व विपणन सहकारी समितियों का परम्परागत शिल्पियों के लिये है। इस प्रयोजन के लिये उनका अपना कोई केन्द्रीय संगठन नहीं है।

कृषि क्षेत्र में, श्रमिक-संघ आन्दोलन अत्यन्त दुर्बल है। इतना अवश्य है कि राज्य और राष्ट्र के स्तर पर कुछ संगठनों के नामपट्ट लटके हुए हैं। यह स्वाभाविक भी है। कारखानों में जहाँ विभिन्न स्थानों के श्रमिक एक स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं, वहाँ कृषि क्षेत्र में श्रमिक एक स्थान से दूर-दूर तक बिखर जाते हैं। इस प्रकार उनमें श्रमिक-संघ चेतना का जागरण अति दुष्कर हो जाता है। उन्हें किसान संगठनों के छोटे किसानों से जोड़ना भी लाभप्रद नहीं रहता। नयी परिस्थितियों में किसानों, शिल्पियों और कृषि-श्रमिकों के सहकारी मण्डल का आदर्श भी इतना आकर्षक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष कारणों से नगरीय श्रमिक-संघों की कार्य-प्रणाली को इस क्षेत्र पर लागू नहीं किया जा सकता। अभी तक नयी समुचित कार्य-प्रणाली भी अंकुरित नहीं हुई है।

हमारे केन्द्रीय श्रम-संगठनों ने अभी तक दस हजार से भी अधिक समाज-कार्य तथा समाज-कल्याण संगठनों के कर्मचारियों की समस्याओं की ओर समुचित ध्यान

नहीं दिया है । श्री गुलजारी लाल नन्दा ने औद्योगिक विधि की परिधि से उन्हें इस तर्क के आधार पर बाहर रक्खा था कि ये समाज-सेवी संस्थाएँ हैं, लाभ बटोरने वाले उद्योग नहीं । परन्तु एक तो उनके अपने भारत सेवक समाज ने ही लाभ के लोभ में अनेक निर्माण-परियोजनाओं के ठेके लिये, दूसरे, इन संगठनों के कर्मचारी अपनी जीविका चलाने के लिये सेवा में आते हैं, त्याग की भागना से नहीं । निश्चय ही कुछ ऐसे लोग हैं जो इस मानव-कल्याण के यज्ञ के लिये त्याग और सेवा का व्रत लेते हैं, पर वे इने-गिने हैं । ऐसे संगठनों का औसत कर्मकार व्यवहारतः केवल 'कर्मचारी' बनकर रह जाता है । केवल वेतनमानों के प्रयोजन के लिये उन पर त्याग थोपना अनुचित है । यद्यपि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की अपेक्षा है कि यथासम्भव अधिक से अधिक नागरिक निःस्वार्थ सेवाभाव ग्रहण करें, किन्तु इसमें रत्ती भर भी औचित्य नहीं दीख पड़ता कि इन संगठनों के कर्मचारियों को औद्योगिक विधि और श्रमिक-संघ संगठन की परिधि से बाहर रखा जाये ।

देश भर के घरेलू नौकरों के लिये एक भिन्न प्रकार के उपचारी विधान की आवश्यकता होगी, क्योंकि उनका कार्य ही भिन्न प्रकार का है और नियोजक-नियोजित के बीच सीधा व्यक्तिगत नाता है । पर आज उनके हित या कल्याण की देखभाल के लिये कोई अन्य व्यवस्था उपलब्ध नहीं है, क्योंकि उन्हें किसी उपयुक्त रूप में संगठित करने में कठिनाई प्रत्यक्ष है ।

नगरपालिका के मेहतरों से भिन्न निजी घरों में काम करने वाले गैर-सरकारी मेहतर, छोटे-छोटे नगरों और ग्रामों के चर्मकार, लघु उद्योगों के श्रमिक, तथा ऐसी ही अन्य अनेक श्रेणियाँ भी उस उपेक्षित वर्ग में आती हैं । मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि बम्बई में 'टिफन' ले जाने वाले बालकों की संख्या १२,३०० से भी अधिक है । समय का तकाजा है कि इस दृष्टि से एक व्यापक सर्वेक्षण किया जाये ।

देश में बंधुआ श्रमिक प्रणाली (उत्सादन) अधिनियम, १९७६ है । बंधुआ श्रमिक को पुनः अपने पैरों पर खड़ा करने के लिये केन्द्र द्वारा प्रायोजित योजना है । इसमें व्यवस्था है कि मुक्त कराये गये प्रति बंधुआ श्रमिक को ४,००० रुपये की समग्र राज-सहायता दी जाये । छठी योजनावधि में कुल मिलाकर २५ करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था है । इतने पर भी बंधुआ श्रमिक की दयनीय दशा में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है । सरकारी अभिकरण इस बारे में असमर्थ रहे हैं कि इन श्रमिकों की पहचान, मुक्ति और पुनर्वास के लिये सही नीति और कार्य-प्रणाली निर्धारित कर सकें । समुचित विधान के उपरान्त बाल-श्रम-समस्या हल नहीं हो पा रही है । होटलों, रेस्तराँओं आदि जैसे असंगठित क्षेत्रों में तथा बीड़ी तथा दियासलाई के कारखानों जैसे संगठित क्षेत्रों में लाखों बच्चे अपने प्यारे माता-पिता के स्नेह से वंचित होकर भारी काम की चक्की में पिस रहे हैं;

उन्हें घण्टों काम करना पड़ता है और उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है। जब तक उनके परिवार के अन्य बड़े सदस्यों के लिये सेवायोजन के विकल्प नहीं निकलते, विधान उनकी अधिक सहायता नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में सरकारी अभिकरण अपेक्षित कार्य नहीं कर सके हैं। श्रमिक-संघ आन्दोलन का यह नैतिक दायित्व है कि ऐसे विषयों पर विचार करे और समुचित सहायता का प्रबन्ध करे। केन्द्रीय श्रमिक-संगठनों के लिये आवश्यक है कि वे स्वयं को बंधुआ श्रमिक, बाल श्रमिक और नगर-क्षेत्रों के अनौपचारिक क्षेत्र के श्रमिकों (यथा—जूता पालिश करने वाले आदि) का न्यासी समझें।

पर उसकी दयनीय दशा का क्या होगा जो भरी जवानी में तो संरक्षण प्राप्त करता है, किन्तु जीवन के धुँधलके में उससे वंचित हो जाता है। औद्योगिक विधान का संरक्षण पेंशनभोगियों, भूतपूर्व सैनिकों और उनकी संस्थाओं को नहीं मिलता। पेंशन की चालू दरें बदली जानी चाहिए। इन दरों की संगति निर्वाह के वर्तमान मूल्य सूचकांक से होनी चाहिए। विभिन्न उद्योगों तथा सेवाओं में पेंशन समितियाँ संगठित की जानी चाहिए ताकि पेंशन सम्बन्धी प्रश्नों और शिकायतों को सम्यक् रूप से तीव्रता से निपटाया जा सके। पेंशनभोगियों के लिये इस प्रकार व्यवस्था की जाये—

(क) सेवानिवृत्ति के बाद दस वर्ष के लिये हल्का-फुल्का अंशकालिक धंधा;

(ग) अभिभावक भत्ता (उनके लिये जिनके सोलह वर्ष से कम आयु के एक या उससे अधिक बच्चे हों); और

(ग) जीवन-पर्यन्त उनके तथा उनके आश्रितों के लिये निःशुल्क चिकित्सा की सुविधा।

मजदूर संघ आन्दोलन का रचनात्मक नेतृत्व

आज हमारा देश जिस विचित्र संकट में फँसा हुआ है, उसके सन्दर्भ में मैं एक बात को उजागर करना चाहूँगा। मैं राष्ट्र के पुनर्निर्माण में भारतीय मजदूर संघ आन्दोलन के एक बड़े योगदान पर प्रकाश डालना चाहता हूँ।

समूचे पूर्वोत्तर क्षेत्र में दूर-दूर तक सतत अशान्ति फैली हुई है। पश्चिमोत्तर सीमा के पार अन्तरराष्ट्रीय उलझन का ज्वालामुखी कभी भी फट सकता है। पड़ोसी देशों की कुत्सित योजनाओं के समाचार मिल रहे हैं। उनके 'एजेण्ट' देश में सक्रिय हैं। मुरादाबाद, अलीगढ़ तथा अन्य स्थानों में दंगे हो चुके हैं। दिनोंदिन विधि और व्यवस्था की स्थिति बिगड़ती जा रही है। प्रदेशवाद, जातिवाद और सम्प्रदायवाद लगातार सिर उठा रहा है। हाल ही में महँगाई में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। केन्द्र तथा राज्य सरकारों की नीतियाँ धनी का पोषण और निर्धन का शोषण कर रही हैं। कौन नहीं जानता कि नौकरशाही, दल, जनता तथा घटनाक्रम पर श्रीमती इन्दिरा गाँधी की पकड़ ढीली होती जा रही है। ये सब बातें हमारी राष्ट्रीय सुरक्षा और अखण्डता के लिये गम्भीर संकट पैदा कर रही हैं।

पूर्ण राष्ट्रीय अखण्डता के बिना स्थिति का सामना करना असम्भव है।

इस दृष्टि से हमारा देना-पावना क्या है? पहली देनदारी तो यह है कि विभिन्न सत्तारूढ़ दलों की प्रवृत्ति पक्षपातपूर्ण और निर्धन-विरोधी है। उन्होंने सत्ता हथियाने के लिये 'वोट' तो गरीबों से प्राप्त किये हैं, पर प्रचार के लिये पैसा धनिकों से लिया है और एक को दूसरे से बचाने का आश्वासन दिया है। किन्तु सत्तारूढ़ होने के बाद अब वे प्रचार के लिये चन्दा देने वालों का हित साध रहे हैं। बेचारा गरीब संकट में फँस गया है। उसे कोई नहीं पूछता। और, निरन्तर दलगत स्वार्थ राष्ट्रहित को पछाड़ रहा है।

इसका एकमात्र उपचार यह है कि सामान्य नागरिक की राष्ट्रीय चेतना के स्तर को उठाया जाये और ऐसे चैतन्य नागरिक एक हो जायें। वे मिलकर विभिन्न सरकारों पर समुचित दबाव डालें और सरकारों को विवश करें कि वे समान राष्ट्रीय हित के अनुरूप उचित व्यवहार करें।

हमारी दूसरी देनदारी है हमारे राजनेताओं का वर्तमान रवैया।

हमारे राजनेता आदर्शवादी तो हैं नहीं। सत्तालोलुप राजनेताओं को राष्ट्र

की अखण्डता से अधिक चिन्ता सामूहिक मतों की है। अतः उन्हें इसी में सुविधा दीख पड़ती है कि वे जानबूझकर विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दें, यथा—जातिवाद, सम्प्रदायवाद, प्रदेशवाद आदि। राष्ट्रीय अखण्डता की प्राप्ति में ये भारी अड़चनें हैं। हमारे देशवासियों में छोटे-मोटे झगड़ों से ऊपर उठने की जो जन्मजात क्षमता थी, उसके बारे में अब सही दिशा में सोचने वाले अनेक नागरिक सशंक हो चुके हैं।

और इस निराशाजनक स्थिति में आशा का संचार किया है हमारे मजदूर संघ आन्दोलन ने।

इसमें सन्देह नहीं कि श्रमिक-संघ आन्दोलन भी विभक्त है। हर उद्योग में संघों (यूनियनों) की भरमार है। फिर भी प्रायः सभी श्रमिक-संघों का यह दावा उचित ही होगा कि श्रमिकों में अपने समान आर्थिक हितों के प्रति चेतना के बल पर वे इन विघटनकारी प्रवृत्तियों पर विजय पाने में सफल हुए हैं। निश्चय ही यह एक महान उपलब्धि है।

राष्ट्रीय जीवन के अन्य क्षेत्रों के लिये भी यह एक उदाहरण है। यदि समान हितों के प्रति चेतना जागरित की जाये तो विघटनकारी प्रवृत्तियाँ स्वयं ही मर जायेंगी और सभी नागरिकों में समान राष्ट्रीय हितों के प्रति चेतना जागरित करना क्या कोई असम्भव बात है?

हो सकता है कि राजनीतिक नेताओं को यह अच्छा न लगे। क्योंकि वे तो अपने प्रासाद गुटबन्दी पर ही खड़े करते हैं। किन्तु यदि सच्चे देशभक्त वास्तव में इस बुराई से पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं तो मजदूर संघ आन्दोलन का यह अनुभव उनकी आशंकाओं को निर्मूल करके उनमें उत्साह और आशा का संचार करेगा।

इस दिशा में भारतीय मजदूर संघ आन्दोलन राष्ट्रीय अखण्डता के सभी साधकों को रचनात्मक नेतृत्व प्रदान कर रहा है।

आपके प्रश्न : हमारे उत्तर

प्रश्न—भारतीय मजदूर संघ का दावा है कि वह अधिकारों और कर्तव्यों पर समान बल देता है। श्रमिक आन्दोलन सर्वत्र केवल श्रमिक वर्ग के अधिकारों से सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध में आपकी नीति लीक से हटकर प्रतीत होती है।

उत्तर—आपको विदित है कि विभिन्न सामाजिक संगठनों के कर्तव्यों तथा नियमावलि के रूप में हमने भारतीय श्रमिकों का माँग-पत्र प्रस्तुत किया है। प्रत्येक अधिकार के अनुरूप एक कर्तव्य होता है और प्रत्येक कर्तव्य के अनुरूप एक अधिकार होता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पार्श्व हैं। टी० एच० ग्रीन ने अधिकारों की परिभाषा की है—"वे शक्तियाँ, जो नैतिक प्राणी के नाते मनुष्य के व्यवसाय की पूर्ति के लिये आवश्यक हों।" मैक कुन के अनुसार, "अधिकार नागरिक के सच्चे विकास के लिये अपरिहार्य सामाजिक कल्याण की कतिपय लाभप्रद शर्तें हैं।" लास्की के विचार में अधिकार जीवन की वे स्थितियाँ हैं, जिनके बिना कोई व्यक्ति अपने सर्वोच्च विकास के लिये सामान्य रूप से प्रयास नहीं कर सकता। अन्तिम परिभाषा हमें प्रसिद्ध उक्ति 'योग: कर्मसु कौशलम्' का स्मरण दिला देती है। कोई व्यक्ति अपनी सर्वोत्तम और अधिकतम क्षमता का प्रदर्शन तभी कर सकता है जब वह अपनी आन्तरिक इच्छा के अनुसार कर्तव्य का पालन करे। केवल इसी उपाय से ग्रीन की 'पूर्ति' को और मैक कुन के 'सच्चे विकास' को प्राप्त किया जा सकता है। एन० वाइल्ड ने कहा है, "कर्तव्यों के संसार में ही अधिकारों का महत्त्व है।" अधोगामी वृत्ति वालों को अधिकार भाते हैं और ऊर्ध्वगामी वृत्ति वालों को कर्तव्य। 'अधिकारों' की भाषा एक ऐसे विशिष्ट नागरिक के पूर्णतया पृथक् अस्तित्व की पूर्व-कल्पना कर लेती है जिसे समाज के विरुद्ध अपने अधिकार का प्रदर्शन करना है। किन्तु ए० डी० लिण्डसे ने कहा है, "कोई भी व्यक्ति न तो निरा व्यक्तिवादी हो सकता है और न ही निरा समाजवादी, क्योंकि व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं और एक दूसरे पर निर्भर हैं।" समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि शरीर और उसके विभिन्न अंगों का। संस्कृति के क्षेत्र में पश्चिम हमारे राष्ट्र से कोसों पीछे है, अत: वे कर्तव्यों के बिना अधिकारों पर बल देकर अपनी पिछड़ी मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। परिपक्व

होने के नाते हमें विदित है कि यदि हर व्यक्ति अपने सामाजिक दायित्व पूरे करता, तो सभी व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा तो स्वयमेव हो जाती है। किन्तु इसके विपरीत, यदि अपने कर्तव्य की अवहेलना करने की वृत्ति पनपने लगे तो सभी के अधिकार सदा ही असुरक्षित रहेंगे।

प्रश्न—आपका यह कथन हास्यास्पद प्रतीत होता है कि भारतीय मजदूर संघ राजनीति से पूर्णतया विमुख है। राजनीति तो सर्वत्र छायी हुई है। जीवन का कोई भी क्षेत्र उससे अछूता नहीं है। राजनीति से कोई पूर्णतया विमुख कैसे हो सकता है?

उत्तर—संगठन विमुख हो सकता है। राजनीति-विज्ञान का सम्बन्ध 'राज्य' के मूल सिद्धान्तों, उसके मूल स्वरूप, उसके रूपों अथवा उसकी अभिव्यक्तियों और उसके विकास से है। अरस्तू राजनीति को 'विज्ञान' की श्रेणी देने वाले प्रथम व्यक्ति थे। जैसाकि गार्नर ने कहा है, "राजनीति-विज्ञान का आदि और अन्त दोनों राज्य के साथ होते हैं।" डॉ० लीकाक के अनुसार, "राजनीति-विज्ञान केवल सरकार का अध्ययन करता है।" गैरीस का विचार है, "राजनीति-विज्ञान राज्य को, उसके सम्बन्धों, उसकी उत्पत्ति, उसकी रचना, उसके उद्देश्यों, उसके नैतिक महत्त्व, उसकी आर्थिक समस्याओं, उसके अस्तित्व, उसके वित्तीय पक्ष, उसके लक्ष्य आदि के समग्र परिप्रेक्ष्य में, शक्ति-संस्थान का रूप मानता है।" प्रो० सीले का कथन है, "राजनीति-विज्ञान प्रशासन-प्रपंच का उसी प्रकार तथ्यान्वेषण (पड़ताल) करता है, जिस प्रकार राजनीतिक अर्थशास्त्र धन का, जीव-विज्ञान जीवन का, अंकगणित अंकों का तथा रेखागणित स्थान और क्षेत्र की व्यापकता का विवेचन करता है।"

भारतीय मजदूर संघ का राज्य से क्या लेना-देना? वह तो समाज अथवा राष्ट्र का साधन मात्र है।

प्रश्न—आप राज्य और समाज में भेद करते हैं। वह कृत्रिम है।

उत्तर—नहीं। भेद तो शत-प्रतिशत वास्तविक है। आधुनिक युग में समाज-विज्ञान का विकास हुआ है। जैसाकि गिलक्राइस्ट ने कहा है, "समाज-विज्ञान तो समाज का विज्ञान है और राजनीति-विज्ञान राज्य अथवा राजनीतिक समाज का विज्ञान है।" समाज-विज्ञान मानव का सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन करता है। समाज, समुदाय के भीतर संगठित संस्थाओं और संस्थानों का समूह है। जिस 'भेद' का उल्लेख आप कर रहे हैं वह तो स्पष्ट रूप में क्रैंकबरी ने किया है। उसने कहा है, "जहाँ समाज-विज्ञान सामान्य समूहों के गठन और संचालन पर विचार करता है, वहाँ राजनीतिक सिद्धान्त अपना ध्यान एक समूह-विशेष अर्थात् राज्य पर केन्द्रित करता है।"

प्रश्न---अच्छा, अब मैं इस बारे में अधिक तर्क-वितर्क नहीं करूँगा, किन्तु मेरा विश्वास है कि आधुनिक राजनीतिक जीवन की जानकारी रखने वाला कोई भी स्थिरमना व्यक्ति आपके इस कथन से सहमत नहीं होगा कि राष्ट्र राज्य से भिन्न है।

उत्तर---हम बहुधा इस बात को स्पष्ट करते रहे हैं। एक से अधिक राष्ट्र वाले राज्य हैं अथवा एक से अधिक राज्यों में विभक्त राष्ट्र हैं। यह कोई निराली बात नहीं है। राष्ट्रीय राज्यों की दशा में भी दो संकल्पनाओं के बीच कार्य पर आधारित विभाजन है। सरकार और प्रभुसत्ता राज्य-संकल्पना के अपरिहार्य तत्त्व हैं। किन्तु राष्ट्र की संकल्पना के लिये ये तत्त्व इतने अपरिहार्य नहीं हैं। कार्यमूलक भेद वहाँ भी विद्यमान है, जहाँ राष्ट्र और राज्य सह-समापनकारी हैं। भारतीय मजदूर संघ जिस बात को स्पष्ट कर चुका है, उसकी मैं और व्याख्या नहीं करना चाहूँगा। वह व्यर्थ की पुनरावृत्ति होगी।

'वी और अवर नेशनहुड डिफाइंड' (हमारी अथवा हमारे राष्ट्रत्व की परिभाषा) नामक अपनी कृति में श्रद्धेय श्री गुरुजी ने इन दो संकल्पनाओं के भेद को स्पष्ट किया है। योगी अरविन्द ने प्रखर शब्दों में कहा है कि राज्य राष्ट्र है ही नहीं। 'नेशनैलिटी एण्ड इट्स प्रॉब्लम्स' (राष्ट्रीयता तथा उसकी समस्याएँ) में हमें बताया गया है कि "राष्ट्रीयता की संकल्पना को राज्य की संकल्पना से पृथक् किया जाना चाहिए। वे भिन्न आवश्यकताओं को पूरा करते हैं, भिन्न कर्म करते हैं। उनका बलपूर्वक अस्वाभाविक गठबन्धन करना पाप है; तर्क और अनुभव को झुठलाना है। ऐसे गठबन्धन का अतीत की भाँति भविष्य में भी केवल एक ही परिणाम होगा कि अत्याचार, घृणा और प्रतिशोध जन्म लेंगे। ये रोग आज संसार को चट कर रहे हैं और वे भी कैसे चिकित्सक हैं जो विजातीय द्रव्यों का पोषण करके रोग को भगाना चाहेंगे!" हैन्स कोहन का विचार है कि "राष्ट्रीयता के संवर्धन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बाह्य लक्षण समान प्रदेश है, न कि राज्य।"

झिमर्न के अनुसार, "धर्म की भाँति राष्ट्रीयता आत्मपरक है, राज्यत्व विषयपरक; राष्ट्रीयता मनोवैज्ञानिक है, राज्यत्व राजनीतिक; राष्ट्रीयता मानसिक अवस्था है, राज्यत्व विधिपरक अवस्था; राष्ट्रीयता आध्यात्मिक थाती है, राज्यत्व प्रवर्तन योग्य दायित्व है; राष्ट्रीयता अनुभव, चिन्तन और जीवन की पद्धति है, राज्यत्व एक ऐसी दशा है जिसे सम्पूर्ण सभ्य जीवन-पद्धति से अलग नहीं किया जा सकता।"

राष्ट्र-निर्माता राज्य संस्था को सीमित महत्त्व देते हैं। राज्य-तन्त्र के प्रति उनका दृष्टिकोण श्री अरविन्द के इन विचारों में भलीभाँति परिलक्षित होता है---"भले ही प्रशासन-तन्त्र सुगठित हो और उच्चतर बौद्धिक तथा नैतिक स्तर वाला

हो, फिर भी राज्य का वह स्वरूप नहीं होगा जिसकी कल्पना अपने बारे में राज्य-संकल्पना करती है। सैद्धान्तिक रूप से, यह समुदाय की सामूहिक बुद्धिमत्ता और शक्ति है जो लोक-कल्याण के लिये संगठित एवं उपलब्ध करायी जाती है। व्यवहार में, इंजन को नियन्त्रण में रखने और ट्रेन को चलाने के लिये समुदाय की उतनी ही बुद्धि और शक्ति उपलब्ध हो पाती है जो राज्य-संगठन के तन्त्र-विशेष की छलनी से छनकर प्राप्त हो सके, क्योंकि वह तन्त्र के चक्कर में फँस जाती है। तन्त्र उसमें बाधा डालता है और आपात-स्थिति में उसमें ढेर सारे अवगुण और स्वार्थ-प्रेरित दुर्बलताएँ आ जाती हैं। वे भी बाधक होती हैं। निस्सन्देह परि-स्थितियों के अधीन इससे अच्छा नहीं किया जा सकता और सदा की भाँति प्रकृति उनका सर्वोत्तम सदुपयोग करती है। किन्तु स्थिति कहीं अधिक विकट हो जायेगी यदि जिन क्षेत्रों में राज्य कुछ नहीं कर सकता, उनमें व्यक्तिगत प्रयासों के लिये स्थान न रक्खा जाये। जिस क्षेत्र में काम करने के लिये राज्य के पास बुद्धि अथवा साहस नहीं है, उसमें श्रेष्ठ व्यक्तियों की निष्ठा, शक्ति और आदर्शवाद का सहारा लिया जाये। जिसे सामूहिक रूढ़िवादिता और मूढ़ता या तो अधूरा छोड़ देगी या जिसका वह तत्परता से दमन और विरोध करेगी, उसे व्यक्ति से कराया जाये। व्यक्ति की यह शक्ति ही वास्तव में सामूहिक उन्नति का वास्तविक साधन है।

राज्य का कोई आत्मा नहीं होता। होता भी है तो नितान्त अल्प-विकसित। यह सैनिक, राजनीतिक और आर्थिक शक्ति है। किन्तु जहाँ तक उसकी बौद्धिक और नैतिक शक्ति का सम्बन्ध है, वह यदि होती भी है तो अविकसित और अत्यल्प मात्रा में। और दुर्भाग्य से अपनी अविकसित बुद्धि का मुख्य उपयोग राज्य यह करता है कि वह मनगढन्त बातों, सस्ते लुभावने नारों और हाल ही में पनपे राज्य-दर्शन से अपनी कुपोषित नैतिक चेतना को कुंठित करता है।

निश्चय ही राज्य उदात्त रूप से कार्य नहीं करेगा। उसमें यह योग्यता नहीं कि वह यथा अपेक्षित, स्वतन्त्र रूप से समंजन करके, बुद्धि लगाकर सहज रूप से ऐसा कार्य कर सके जो स्वाभाविक प्रगति के लिये उपयुक्त हो, क्योंकि राज्य चेतन जीव नहीं है। वह ऐसा निष्प्राण तन्त्र है जिसमें न कौशल है, न संवेदनशीलता और न अन्तर्दृष्टि। वह तो बँधे-बँधाये ढर्रे पर निर्माण करता है, परन्तु मानवता तो कुछ करके दिखाना चाहती है। वह विकास और सृजन करना चाहती है।" सार यह है कि इस दृष्टि से भारतीय मजदूर संघ अच्छी संगति में रह रहा है।

प्रश्न—आपने प्राय: कहा है कि कम्यूनिस्ट देश भी राष्ट्रवादी होते जा रहे हैं। क्या उन देशों में 'राष्ट्रवाद' शब्द लोकप्रिय हो गया है?

उत्तर—एमिल लेंगेल हमें सूचित करते हैं कि यद्यपि राष्ट्रवाद रूस, चीन तथा पूर्वी यूरोप के कम्यूनिस्ट समूह में प्रधान भाव बन गया है, फिर भी उस क्षेत्र

में यह लोकप्रिय शब्द नहीं बन पाया है। इस विसंगति का कारण यह हो सकता है कि हिंस्र और अनास्थावादी फासिज़्म ने राष्ट्रवाद का दैवीकरण करके उसे मूर्ति-पूजा के सिंहासन पर बैठा दिया था। कम्यूनिस्टों के अनुसार उसने ऐसे जातीय राष्ट्र का निर्माण कर डाला जो दावा करता था कि उनका रक्त, उनकी संस्कृति और उनकी ऐतिहासिक परम्परा अन्य सभी से उच्च है। फासिस्टों के राष्ट्रवाद का पारदर्शी रूप उन राष्ट्र-भक्तों के रूप में दीख पड़ा, जिन्होंने स्वेच्छा से युद्धों में चरम बलिदान किया। निश्चय ही चरम बलिदान तो सभी राष्ट्रिकों के लिये यह होता कि वे राष्ट्रीय देव-प्रतीक, राष्ट्रदेव की वेदी पर सामूहिक रूप से अपनी बलि चढ़ा देते। हो सकता है कि इस प्रकार कम्यूनिस्ट जगत् में 'राष्ट्र-वाद' शब्द ने दूषित अर्थ ग्रहण कर लिया हो, पर उसकी संकल्पना अछूती रही हो। अतः एक अन्य शब्द ग्रहण करना पड़ा। समसामयिक कम्यूनिज़्म ने उसके स्थान पर 'देशभक्ति' शब्द अपनाया।

कम्यूनिस्ट जगत् में इस शब्द का विचित्र इतिहास है। प्रारम्भ में तो यह अपमानजनक शब्द था। वह विरोधी शक्तियों का गुणवाचक था। चूँकि पश्चिम के समाजवादियों को अन्तरराष्ट्रीयतावादी नहीं माना जाता था, कम्यूनिस्ट उन्हें 'सामाजिक देशभक्त' कहकर उनकी निन्दा करते थे। 'देशभक्त' और 'देशभक्ति' शब्द भावशून्य, आडम्बरपूर्ण, छाती पीटने वाले संकीर्ण मूल्यों का परिचय देते थे। साथ ही चरम दक्षिणपंथी भी देशभक्ति का गुणगान करते थे। वह उच्च प्रकार के राष्ट्रवाद का द्योतक था, जहाँ राष्ट्र पितृ-भूमि का स्थान लेता है जो अन्तिम आश्रयस्थल और पूर्ण तादात्म्य है। शब्दकोश के अनुसार देशभक्त वह है "जो अपने देश से प्रेम करता है और तन, मन, धन से उसके प्राधिकार और हित का समर्थन करता है।" यह कट्टर कम्यूनिस्टों के अन्तरराष्ट्रीय समूहवाद की संकल्पना के प्रतिकूल है। इसके उपरान्त कम्यूनिस्टों ने अपने राजनीतिक-सामाजिक प्रवृत्ति के निरूपण के लिये 'देशभक्ति' शब्द को अपनाया है। पर सामान्य प्रकार से उसका विभेद करने के लिये वे इसे 'समाजवादी देशभक्ति' कहते हैं।

यह स्वाभाविक है कि नामकरण या शब्दावलि के चयन में पिछली चिन्तन-धारा या वर्तमान पूर्वाग्रहों का प्रभाव पड़ सकता है, किन्तु आशय में कोई परिवर्तन नहीं होता। सभी कम्यूनिस्ट देशों ने राष्ट्रवाद को अपनाया है। इसका कोई महत्त्व नहीं कि वे उसे राष्ट्रवाद कहें, देशभक्ति कहें या सामाजिक देशभक्ति। लेंगेल ने सूचित किया है कि अन्तरराष्ट्रवाद रूसियों का सरकारी धर्म है और एक पीढ़ी तक कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल 'कामिण्टर्न'—'मास्को इण्टरनेशनल' चला। दूसरे महायुद्ध में कामिण्टर्न भंग कर दिया गया। उसका अल्प महत्त्वाकांक्षी सहोदर कम्यूनिस्ट सूचना विभाग 'कामिनफार्म' भी अल्पजीवी रहा। तब से मास्को में कोई 'इण्टरनेशनल' नहीं रहा।

राष्ट्रवाद समूचे कम्यूनिस्ट जगत् पर छाया हुआ है।

प्रश्न—आपने पश्चिम के 'वादों' में से किसी को भी स्वीकार नहीं किया है, किन्तु अभी तक अपनी परिकल्पना की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की भी कोई निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की है। यह तो नितान्त नकारात्मक दृष्टि है।

उत्तर—आवश्यक नहीं कि ऐसा ही हो। सम्भवत: आपने यह धारणा बना ली है कि कम्यूनिस्टों के पास आदर्श सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की कोई मानक सर्वोपयोगी रूपरेखा है। ऐसा है नहीं। जैसाकि लेनिन ने कहा है, कार्ल मार्क्स ने समाजवाद के अर्थशास्त्र के बारे में एक भी शब्द नहीं लिखा है। जब रूस में कम्यूनिस्ट सत्तारूढ़ हुए, उसके बाद स्वातन्त्र्य-वीर सावरकर ने पूछा कि रूस की सामाजिक व्यवस्था की कोई रूपरेखा क्या उनके पास है तो लेनिन ने उत्तर में केवल यह कहा था कि राज्य-तन्त्र पर अधिकार होने के बाद जब क्रियान्विति का चरण आता है, उसके बाद ही प्रयोग और भूल सुधार विधि से रूपरेखा उभर कर आती है और प्रारम्भिक अवस्था में तो नयी व्यवस्था के लिये मार्गदर्शी सिद्धान्त ही निर्धारित किये जा सकते हैं; मार्क्स उन्हें निर्धारित कर ही चुके हैं। लेनिन के लिये प्रारम्भिक अवस्था में कम्यूनिज़म का अर्थ यह था कि रूस का सोवियतीकरण और विद्युतीकरण किया जाये। वह उसकी व्यावहारिक दृष्टि थी। भारत के कम्यूनिस्ट तो लकीर के फकीर हैं। इस सन्दर्भ में स्वयं मार्क्स का दृष्टिकोण क्या था ? वूल्फगैंड ल्योनार्द ने अपने 'थ्री फेसेज़ ऑफ़ मार्क्सिज़म' (मार्क्सवाद की तीन आकृतियाँ) में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"जहाँ तक इन चरणों के विस्तृत विवेचन और विशिष्ट व्यावहारिक समस्याओं के समाधान का सम्बन्ध है, मार्क्स और एंजेल्स ने किसी चर्चा की आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि वे इसे कल्पनारम्य चिन्तन मानते थे। "श्रमजीवी लोगों के पास जनता को बताने के लिये कोई भी पूर्व-निर्मित (रेडीमेड) 'यूटोपिया' नहीं है"—मार्क्स ने घोषणा की। उन्हें "कोई आदर्श प्राप्त नहीं करने होते, बल्कि नये समाज के उन तत्त्वों को मुक्त करना होता है जो पुराने ढहते हुए बुर्जुआ समाज के गर्भ में पलते रहते हैं।" यह कम्यूनिस्टों का काम नहीं है कि वे "भावी समाज के संगठन हेतु आदर्श प्रणालियों का सृजन करें, विवरण के प्रश्नों का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस बारे में कल्पना के घोड़े दौड़ाना कि भावी समाज भोजन और आवास के वितरण की व्यवस्था किस प्रकार कर सकता है, सीधा आदर्श राज्य का विषय बन जाता है।" भावी कम्यूनिस्ट समाज के लोग "इस बात की धेला भर परवाह नहीं करेंगे कि आज हम इस बारे में क्या सोचते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए।"

भारत के जो कम्यूनिस्ट हमारी रूपरेखा (ब्लू प्रिंट) के बारे में पूछते हैं, उन्हें शायद मार्क्स के इन विचारों का ज्ञान नहीं है।

प्रश्न—आपके इस कथन का क्या तात्पर्य है कि माओ ने मार्क्सवाद का चीनीकरण करने का प्रयास किया ?

उत्तर—माओ विकास के एक चीनी आदर्श के फेर में थे। प्रगति की लम्बी छलांग, समाजवादी शिक्षा आन्दोलन और सांस्कृतिक क्रान्ति इस दिशा में प्रयोग थे। उनके अधिकांश विचार शत-प्रतिशत चीनी थे, यथा—मानव प्राणियों का पूरणीयतावाद, ब्रह्माण्ड-विज्ञान सम्बन्धी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, आत्म-निरीक्षण के माध्यम से खेती। चीनी नमूने पर वह वैकल्पिक विज्ञान, वैकल्पिक प्रौद्योगिकी, वैकल्पिक भेषज पद्धति और वैकल्पिक लोकतन्त्र का विकास करना चाहते थे। वह समूची सभ्यता को उपभोक्तावाद से कहीं दूर ले जाना चाहते थे। वह चाहते थे कि 'टैक्नोक्रेटों' और 'मैनेजरों' का शासन न चले। वह इस संकल्पना पर अप्रसन्नता प्रकट करते थे कि व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्वायत्तता उत्पादन की शक्तियों को सौंपी जाये। वह सदा चीनी इतिहास और कथाओं से उदाहरण देते थे। यह सब मार्क्सवाद का 'चीनीकरण' ही तो था। चीनीकरण की इस प्रक्रिया को ही माओ के बाद के नेतृत्व ने उठाकर एक ओर फेंक दिया।

प्रश्न—आपका दावा है कि रूसी कम्यूनिस्ट भी अभौतिकता में रुचि लेने लगे हैं ? क्या आप इस पर प्रकाश डाल सकते हैं ?

उत्तर—रूसी वैज्ञानिक दूरबोध, इच्छा-शक्ति द्वारा दूरस्थ वस्तुओं को हिलाना-डुलाना, मानव सहित जीवित प्राणियों के प्रभामण्डल के छायाचित्र लेना, उपर्युक्त छायाचित्रकारी का भेषज पर प्रयोग, मानसिक शक्ति द्वारा उपचार, पृथ्वीलोकेतर सभ्यता (अन्य ग्रहों पर), सम्मोहन द्वारा उपचार, अवचेतन में प्रतिभा-विमोचन, स्पर्श-दर्शन आदि विषयों पर अनुसन्धान कर रहे हैं। उपर्युक्त विषयों वाले अनेक संस्थान सरकार द्वारा प्रायोजित हैं, जन-साधारण को उनका पता नहीं।

प्रश्न—यदि वर्तमान राजनीतिक दलों पर आपकी आस्था नहीं है तो ब्रिटिश लेबर पार्टी जैसा कोई श्रमिक-दल क्यों नहीं बना लेते ?

उत्तर—आपका यह कथन सही नहीं है कि ग्रेट ब्रिटेन की लेबर पार्टी का प्रयोग भारत में अनुकरणीय है। हमारे अपने देश में ही हमने देखा है कि अहमदाबाद में यह प्रयोग असफल रहा है जहाँ 'नेशनल लेबर आरगेनाइजेशन' ने अपने राजनीतिक मंच 'नेशनल लेबर पार्टी' का निर्माण किया था। श्री वी० वी० गिरि ने इण्डियन लेबर पार्टी के गठन की घोषणा की थी। प्रयास विफल रहा। ग्रेट ब्रिटेन में औद्योगिक श्रमिकों का अनुपात भारत से कहीं अधिक है। वहाँ भी यह विचार सफल नहीं हो सका। लेबर पार्टी के गठन के पीछे भावना यह थी कि राजनीति में श्रमिक वर्ग की आवाज हो। श्रमिक अपने हितों का संरक्षण करना चाहते थे,

किन्तु श्रमिक-संघ आन्दोलन की कोई सुस्पष्ट विचारधारा नहीं थी। श्रमिक-संघों ने राजनीति में प्रवेश का संकल्प किया। जिस संगठन ने पहला चुनाव अभियान चलाया, वह श्रमिक प्रतिनिधि समिति कहलायी। जब श्रमिक प्रतिनिधि समिति ने २५ संसद-सदस्य निर्वाचित करा लिये तो वे अपने आपको लेबर पार्टी कहने लगे। यह दल पश्चिम के अन्य दलों जैसा नहीं है। इसकी कोई स्पष्ट परिभाषित विचारधारा नहीं है। उसके पास केवल समाजवाद की धुँधली संकल्पना है।

यह पूर्णतः व्यक्तिगत सदस्यता पर आधारित नहीं है। जब मैं उस देश की यात्रा पर गया तो मुझे बताया गया कि श्रमिक-संघों के माध्यम से उसके ८० लाख सम्बद्ध सदस्य थे, (जब कि श्रमिकों को विकल्प की छूट थी) और ८ लाख व्यक्तिगत सदस्य थे। मैंने यह शिकायत सुनी कि एक बार पद-ग्रहण करने के बाद लेबर पार्टी के मन्त्री न केवल ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस के संकल्पों की, बल्कि ब्रिटिश लेबर पार्टी के संकल्पों की भी अवहेलना करते हैं। सत्ता में आने के बाद वे उन्हीं नीतियों का अनुसरण करते हैं जो उन्हें 'वास्तविक' लगती हैं।

यह सोचना मिथ्या है कि उस देश के सभी श्रमिक लेबर पार्टी के समर्थक हैं। इतिहास हमें बताता है कि १८८४ के बाद से लगभग दो तिहाई मतदाता ब्रिटिश श्रमिक वर्ग के हैं। फिर भी कंजरवेटिव पार्टी की भाँति लेबर पार्टी कुल मतों के एक तिहाई से अधिक की आशा नहीं कर सकती। कभी-कभार ऐसा होता है कि मध्य वर्ग के २० प्रतिशत से अधिक मत लेबर पार्टी को मिलते हैं, जबकि विरले अवसर ही ऐसे होते हैं जब श्रमिक वर्ग के ४० प्रतिशत से कम मत लेबर पार्टी से इतर दल को मिले हों और अधिकांश चुनावों में मध्य वर्ग के एक तिहाई मत कंजरवेटिव के मतदाता-समर्थन का लगभग ५० प्रतिशत प्रतिनिधित्व करते हैं। मतदान की दृष्टि से देखा जाये तो मध्य वर्ग में श्रमिक वर्ग की अपेक्षा अधिक वर्ग-चेतना दिखायी देती है। सभी जानते हैं कि हाल के वर्षों में ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस और ब्रिटिश लेबर पार्टी के बीच टकराव होता रहा है। अतः इस ब्रिटिश प्रयोग का यहाँ अनुसरण नहीं किया जाना चाहिए।

प्रश्न—देश के राजनीतिक जीवन में भारतीय मजदूर संघ की क्या भूमिका है ?

उत्तर—आदर्श स्थिति में आशा है कि जन-संगठन राजनीतिक दलों के प्रभाव से मुक्त रहेंगे और वे दबाव डालने वाले समूहों तथा वैकल्पिक शक्ति-केन्द्रों के रूप में कार्य करेंगे। भारतीय मजदूर संघ भी यही भूमिका निभायेगा।

प्रश्न—क्या सभी औद्योगिक बीमारियों का एकमात्र उपचार श्रमिकीकरण है ?

उत्तर—शायद कुछ लोगों के मन में यह भ्रान्ति है कि भारतीय मजदूर संघ

सब औद्योगिक रोगों का उपचार श्रमिकीकरण बता रहा है। परन्तु यह सही नहीं है। श्रमिकीकरण का महत्त्व हमने अवश्य बताया है, किन्तु जैसे कम्यूनिस्ट कहते हैं कि सभी औद्योगिक रोगों की एक ही ओषधि है--राष्ट्रीयकरण, वैसा हम श्रमिकीकरण के बारे में नहीं कहते। भिन्न-भिन्न रोगों की भिन्न-भिन्न ओषधियाँ होती हैं। हमने औद्योगिक स्वामित्व का स्वरूप निश्चित करने के लिये राष्ट्रीय आयोग की माँग की है जिसमें हमने स्पष्ट कहा है कि हम नहीं मानते कि विभिन्न उद्योगों के लिये स्वामित्व का एक ही प्रतिरूप उपयुक्त होगा। प्रत्येक उद्योग की अपनी विशिष्टताएँ हैं। उद्योग-विशेष की इन विशिष्टताओं तथा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की समस्त सामान्य आवश्यकताओं के प्रकाश में प्रत्येक उद्योग के लिये स्वामित्व का स्वरूप निर्धारित किया जाना चाहिए। इसके लिये एक राष्ट्रीय आयोग नियुक्त हो, जो उद्योग-विशेष के लिये विशेष प्रकार का स्वामित्व निर्धारित करने हेतु मापदण्ड या कसौटी निश्चित करने की समस्या पर विस्तार से विचार करे। उदाहरणार्थ—ब्रिटेन में किसी भी नये उद्योग के राष्ट्रीयकरण का निर्णय लेने से पूर्व निम्नलिखित बातों पर विचार करने की प्रथा है—

१. क्या उद्योग का स्वरूप आधारभूत प्रकार का है ?
२. क्या उसका संचालन दक्षतापूर्वक नहीं हो रहा है ?
३. क्या उसमें एकाधिकारवादी प्रवृत्तियाँ अंकुरित हो रही हैं ?
४. क्या वह अस्वस्थ श्रमिक-सम्बन्धों से ग्रस्त है ?
५. क्या वह अपने विकास के लिये पूँजी जुटाने में असमर्थ है ?

ब्रिटेन में श्रमिक दल तक ने समय आने पर अनुभव किया कि—(१) राष्ट्रीय-कृत उद्योग निजी क्षेत्र के उद्योगों से अनिवार्यतः अधिक दक्ष नहीं हैं, (२) राष्ट्रीय-कृत उद्योग भी एकाधिकारवादी बन सकते हैं, और (३) सार्वजनिक क्षेत्र में भी श्रमिक-सम्बन्ध उतने ही अच्छे या बुरे हैं जितने वे निजी क्षेत्र में प्रायः होते हैं।

यह अनुभव किया गया कि सही अर्थों में कोई भी उद्योग 'राष्ट्रीयकृत' नहीं किया जा सका। संसार में ऐसा कोई भी सरकारीकृत उद्योग नहीं है जो—

(१) जन-नियन्त्रण,
(२) जन-प्रशासन, और
(३) जन-उत्तरदायित्व

की आधारभूत शर्तों को पूरा करता हो।

ब्लैकपो में श्रमिक दल के ६०वें वार्षिक अधिवेशन (२६-१०-१९६१) ने श्रम-भवन नीति सम्बन्धी अपने स्वीकृत वक्तव्य में स्वामित्व के अन्य रूपों का भी सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है—

"इन विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये निश्चय ही लोक-स्वामित्व के प्रति-रूपों में विस्तृत अन्तर रहेगा। हम इसे पहले से ही अनेक रूपों में विकसित होता

हुआ देख सकते हैं, यथा—एक सम्पूर्ण उद्योग या व्यापारिक संस्था का राष्ट्रीयकरण, औद्योगिक समवायों में राज्य का भागीदारी के आधार पर सम्मिलित होना, राज्य के स्वामित्व में कार्यरत किसी प्रतिष्ठान का निजी संस्थाओं से प्रतियोगिता करना, नगरपालिका-व्यापार, और अन्त में सहकारी स्वामित्व। सामाजिक स्वामित्व के इन सभी प्रकारों को एकाधिकार के संकट का सामना करने में, राष्ट्रीय लाभांश के न्यायपूर्ण वितरण का लक्ष्य प्राप्त करने में और सबसे महत्त्वपूर्ण—आर्थिक विकास की हमारी राष्ट्रीय योजना की सहायता करने में अपनी भूमिका निभानी है।"

संयुक्त राज्य अमरीका में श्रमिक-संघ आन्दोलन सामान्यत: राष्ट्रीयकरण का विरोधी है। ए० एफ० एल०—सी० आइ० ओ० के वर्तमान (१९८०) प्रमुख लेन किर्कलैण्ड ने एक बार कहा, "कुल मिलाकर हम निजी समवायों से समझौता वार्ता करने में रुचि रखते हैं जिनमें मोटे रूप से न्यायालयों, आरक्षी बल, स्थल-सेना, नौ-सेना और हाइड्रोजन बम को नियन्त्रित करने वाले (सरकारी) निगमों के ही समतुल्य सौदेबाजी करने की क्षमता होती है।" तथापि, व्यावहारिक कारणों से उन्होंने कुछ क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण को स्वीकार किया है।

हम कह चुके हैं कि हमारा दृष्टिकोण व्यावहारिक, लचीला और तन्य है। इतना ही नहीं, हमने तो प्रस्ताव में ही कह दिया है कि रूप (स्वामित्व के) अनेक हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—हमने कहा है कि विनियमित निजी उद्यम हो सकते हैं और पहले से ही अनेक पश्चिमी देशों में निजी उद्यम विनियमित किया जा चुका है जिससे पश्चिमी देशों में पूँजीवाद का पारम्परिक प्रथागत स्वरूप ही बदल चुका है। अत:, इनका तो विनियमन किया जा सकता है। राष्ट्रीयकरण भी हो सकता है। पश्चिमी देशों में भी लोगों ने राष्ट्रीयकरण के लिये कुछ कसौटियाँ निर्धारित की हैं। केवल रूढ़िवादी स्वभाव के व्यक्तियों ने कहा है कि हर उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिए। परन्तु श्रमिक दल के बुद्धिमान लोगों ने, सन्तुलित लोगों ने, कुछ कसौटियाँ निश्चित कर दी हैं और उन्हीं के प्रकाश में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का प्रयास करते हैं। भारत में भी हमारे लिये राष्ट्रीयकरण कोई नयी बात नहीं है। यहाँ तक कि अतीत में भी हमारे यहाँ कुछ उद्योग राष्ट्रीयकृत थे, यथा—आपने सुना होगा कि विजयनगर साम्राज्य में खान उद्योग राष्ट्रीयकृत थे, कौशेय (रेशम) उद्योग राष्ट्रीयकृत था। अत: राष्ट्रीयकरण हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिये कोई नयी या अपरिचित बात नहीं है, वरन् इसे एक अपरिहार्य बुराई के रूप में स्वीकार किया जाता था। सहकारीकरण भी हो सकता है। नगर बस सेवा, नगरपालिका के उद्यानों और अन्य नगरपालिका सेवाओं की ही भाँति उद्योगों का नगरपालिकाकरण हो सकता है। स्वनियोजित व्यक्तियों का भी विशाल क्षेत्र है। संयुक्त क्षेत्र हो सकता है। हमने उद्योगों के

लोकतन्त्रीकरण का उदाहरण प्रायः ही उद्‌धृत किया है जिसके लिये उद्योग की अंश-पूँजी केवल निम्न आय वर्गों के लिये ही खुली रखी जाती है, यह भी हमने कहा है।

अतएव औद्योगिक स्वामित्व के अनेक रूप हैं और हमने कहा है कि राष्ट्रीय आयोग को किसी विशेष उद्योग के स्वामित्व का कोई विशेष स्वरूप निर्धारित करने के लिये उस उद्योग की विशिष्टताओं और राष्ट्रीय अर्थनीति की समग्र आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर एक कसौटी निश्चित करनी चाहिए। किन्तु इस सबके मध्य हमने यह कहा है कि श्रमिकीकरण की प्रक्रिया चलती रहनी चाहिए और श्रमिकीकरण की प्रक्रिया का अर्थ है श्रम का मूल्यांकन अंश (शेयर) के रूप में करना। इस प्रकार हम मानते हैं कि प्रत्येक उद्योग के दो प्रकार के अंश हैं—धन के रूप में और श्रम के रूप में। और इस प्रकार, श्रम अंश प्रदान करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अंशधारी (शेयर होल्डर) के स्तर पर लाया जाना चाहिए तथा इस रूप में उसे उद्योग के निर्णय लेने की सम्पूर्ण प्रक्रिया में भागीदार बनाना चाहिए। हमने कहा है कि वह सहभागी होना चाहिए, परन्तु हमने यह भी कहा है कि श्रमिकीकरण की प्रक्रिया एक भिन्न अवस्था में, एक भिन्न कोटि में, एक भिन्न सीमा तक और औद्योगिक स्वामित्व के एक भिन्न प्रतिरूप के अन्तर्गत होगी। हमारे दृष्टिकोण में अक्खड़पन नहीं है। जहाँ तक किसी उद्योग को किसी व्यक्ति के निजी अधिकार से लेकर उसका राष्ट्रीयकरण करने का प्रश्न है, हम इसके विरुद्ध नहीं हैं, विचार केवल इतना ही करना है कि वैसा करने की आवश्यकता है या नहीं है। और करना क्या चाहिए, इसका निश्चय तर्कसंगत ढंग से किया जाना चाहिए। सभी राष्ट्रीयकरण अनुचित हैं और कोई भी राष्ट्रीयकरण अनुचित नहीं है तथा अनेक विकल्प भी हैं। अतः हमारा मत सर्वथा व्यावहारिक है और हम श्रमिकीकरण पर बहुत अधिक बल दे रहे हैं। किन्तु जैसे कम्यूनिस्ट कहते हैं कि राष्ट्रीयकरण सभी विकारों की एक ही ओषधि है, हम श्रमिकीकरण को वैसा नहीं बताते। हमें स्वामित्व के सभी विभिन्न प्रतिरूपों का उपयोग करना होगा, परन्तु श्रमिकीकरण को इस सबके मध्य उचित सम्मान प्रदान किया जाना चाहिए।

प्रश्न—भारतीय मजदूर संघ के 'माँग-पत्र' में जिस 'औद्योगिक परिवार' का विचार प्रस्तुत किया गया है, क्या हमने उसकी विशद रूपरेखा बना ली है? इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह मात्र एक रेखा-चित्र प्रतीत होता है, सम्पूर्ण रूपरेखा नहीं। यदि पूरे विवरण नहीं भी तो क्या कम से कम दिशा-निर्देश किया जा सकता है?

उत्तर—अपने राष्ट्रीय माँग-पत्र में हमने औद्योगिक स्वामित्व की समस्या

पर अपने व्यावहारिक और लचीले दृष्टिकोण के ढाँचे के अन्दर औद्योगिक परिवार की संकल्पना प्रस्तुत की है। आप उसके विस्तृत विवरण जानने को उत्सुक हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में मेरा कहना है कि उन्हें उचित अवस्था आने पर निर्धारित करना होगा। वह अवस्था अभी आयी नहीं है। किन्तु वैसा करते समय हम दो स्रोतों से सूत्र पकड़ सकते हैं। यूगोस्लाविया की 'सम्बद्ध श्रम-संकल्पना' का हमें इस सन्दर्भ में गम्भीरता से अवलोकन करना चाहिए, यद्यपि प्रथम तो वह एक भिन्न परिवेश में लागू की जा रही है और यूगोस्लाविया भी कह रहा है कि उसका प्रयोग निर्यात के लिये नहीं है, तथा दूसरे, सब कुछ अभी प्रयोग की अवस्था में है, फिर भी यूगोस्लाविया के प्रयोग में सीखने के लिये बहुत कुछ है।

दूसरा सूत्र यह है कि भारतीय मजदूर संघ द्वारा औद्योगिक सन्दर्भ में प्रयुक्त 'परिवार' शब्द हमारे सुपरिचित भारतीय परिवार से समानता का भी संकेत देता है। परम्परागत हिन्दू संयुक्त परिवार या तो मिताक्षरा विधान के अन्तर्गत आता है या दायभाग विधान के अन्तर्गत। संदायादता (सह समांशिता—Coparcenery) संयुक्त परिवार का अंग है—अविच्छेद्य अंग। हिन्दू संयुक्त परिवार संदायादता से इन बातों में भिन्न होता है—(१) इसके सदस्यों की अनिश्चित संख्या और (२) उनके अधिकारों में असमानता। उनमें से कुछ, अर्थात् संदायादी (coparcener) संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में रुचि रखते हैं और अन्यों अर्थात् असंदायादियों को केवल भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार होता है। आज के 'औद्योगिक परिवार' में सभी काम करने वाले—चाहे वे कामगार, प्रबन्धक, प्रविधिज्ञ, या नियोजक, कुछ भी हों—स्वभावतः संदायादी होंगे तथा उनके परिवारों के सदस्यों की श्रेणी संयुक्त परिवार के असंदायादी सदस्यों के समतुल्य होगी जिन्हें केवल भरण-पोषण पाने का अधिकार है। संयुक्त परिवार या संदायादता की सम्पत्ति में वह सब सम्पत्ति सम्मिलित है जिसमें सदस्यों का संयुक्त हित या संयुक्त स्वत्व (अधिकार) होता है। जैसाकि इसे प्रिवी कौन्सिल ने प्रस्तुत किया है, "हिन्दू विधि के सिद्धान्तों के अनुसार एकीकृत परिवार के विभिन्न सदस्यों में संदायादत्व होता है और इसमें उत्तरजीविता आपन्न होती है। परिवार के सभी सदस्यों में 'हितों की सामुदायिकता' और 'स्वत्व की एकता' होती है तथा उनमें से किसी की मृत्यु होने पर अन्य उसी प्रकार उत्तरजीविता से उसे प्राप्त करते हैं, जिसमें मृतक के जीवनकाल में उनका संयुक्त हित और संयुक्त स्वत्व था।" जब तक परिवार संयुक्त और अविभाज्य हो, मिताक्षरा संयुक्त परिवार की सम्पत्ति अपनी सम्पूर्णता में सम्पूर्ण परिवार की होती है; संदायादी की संदायादता-सम्पत्ति में कोई विशिष्ट सम्पत्ति नहीं होती; उसका केवल एक हित होता है जो विभाजन होने पर परिपक्व होकर विशिष्ट सम्पत्ति में परिणत हो सकता है। हिन्दू संदायादता की विशेषताएँ ये हैं—(१) न्यायिक अस्तित्व की एकता और (२)

स्वामित्व की एकता। न्यायिक अस्तित्व की एकता का अर्थ यह है कि बाहरी जगत् की दृष्टि से सभी संदायादी न्यायिक प्रयोजनों के लिये एक व्यक्ति के सदृश हैं, किसी एक सदस्य की मृत्यु से सामूहिक अस्तित्व में कोई बाधा नहीं आती। परिवार एक निगम की भाँति है, जिसका निरन्तर अस्तित्व है। इसकी संरचना में जन्म, दत्तक-ग्रहण, विवाह और मृत्यु से अन्तर आ सकता है, किन्तु बाहरी व्यक्तियों की दृष्टि से यह एक व्यक्ति-सदृश ही माना जायेगा जिसका अलग वैधानिक सत्त्व है। बाहरी लोगों के सन्दर्भ में जहाँ यह स्थिति है, वहाँ संदायादियों के अपने मध्य हितों की पूर्ण सामूहिक समता (सामुदायिकता) और स्वत्व की एकता रहती है। किन्तु स्वामित्व की एकता का अर्थ यह है कि संयुक्त परिवार की सम्पत्ति संदायादियों के सम्पूर्ण निकाय में निहित है तथा जब तक परिवार अविभाजित रहता है, कोई भी अकेला सदस्य यह नहीं कह सकता कि उसका कोई निश्चित अंश है।

संरचना या गठन के मूलभूत सिद्धान्त का जहाँ तक प्रश्न है, क्या भारतीय मजदूर संघ द्वारा परिकल्पित 'औद्योगिक परिवार' मिताक्षरा हिन्दू संयुक्त परिवार को अपना प्रादर्श (माडल) बना सकता है? स्पष्ट है कि आनुरूप्य को बहुत दूर तक नहीं खींच ले जाना चाहिए। हमें आधारभूत सिद्धान्त से प्रयोजन है, सूक्ष्म विवरणों से नहीं जो सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों और अवधारणाओं में होने वाले परिवर्तनों के साथ परिवर्तनीय हैं। औद्योगिक परिवार की संरचना और कार्यविधि को भी प्रचलित सामाजिक-आर्थिक वातावरण के परिप्रेक्ष्य में निर्धारित करना होगा। किन्तु ऊपर प्रतिपादित आधारभूत सिद्धान्त अपरिवर्तित रह सकता है।

यह भी उतना ही स्पष्ट है कि वर्तमान ढाँचे से इस आदर्श स्थिति में रातोंरात कूदकर नहीं जाया जा सकता। यह केवल एक चरणबद्ध कार्यक्रम से ही सम्भव है। इस उद्देश्य के लिये दायभाग परिवार का संरचना-प्रतिरूप तुरन्त उपयोगी होगा। यहाँ भी केवल आधारभूत सिद्धान्त से ही हमारा सम्बन्ध है। दायभाग विधान में संदायादता का सार 'स्वत्व की एकता' (unity of possession) है, 'स्वामित्व की एकता' नहीं, क्योंकि स्वामित्व संदायादियों के सम्पूर्ण निकाय में नहीं है। प्रत्येक संदायादी को एक परिभाषित अंश प्राप्त होता है जिसका वह पूर्ण स्वामी होता है तथा उसे वह उसी प्रकार उपहार में दे सकता है या इच्छानुसार व्यय कर सकता है जैसे कि अपनी पृथक् सम्पत्ति को। क्योंकि अंश पहले से ही सुपरिभाषित होता है, अतः परिवार में किसी के जन्म या मृत्यु से वह ऊपर-नीचे नहीं होता। 'संदायादता' शब्द का प्रयोग ही केवल इस अर्थ में किया जाता है कि 'संदायादी' कहलाने वाले व्यक्तियों का परिवार की सम्पत्ति में 'संयुक्त स्वत्व' होता है। क्योंकि प्रत्येक संदायादी एक परिभाषित अंश प्राप्त करता है,

दायभाग विधान में विभाजन का अर्थ है संदायादियों के अंशों का पृथक्करण तथा उनको सम्पत्ति के निश्चित भाग प्रदान करना। श्रम तथा प्राविधिक (टैक्नीकल) और प्रबन्धकीय दक्षताओं का अंशों के रूप में मूल्यांकन करने के पश्चात् उपर्युक्त पद्धति को सिद्धान्ततः अंगीकार करना कठिन नहीं होगा, यद्यपि यह भी आदर्श से कुछ निम्नस्तरीय है। फिर भी, यह सही दिशा में प्रथम पग हो सकता है। उत्तरोत्तर चरणों को उत्तरोत्तर ही निर्धारित किया जा सकता है।

प्रश्न—हमने कहा है 'उद्योगों का श्रमिकीकरण करो'। इतना हमारे लिये पर्याप्त है। फिर हमने 'श्रमिकों का राष्ट्रीयकरण करो' वाली बात उसमें क्यों जोड़ दी?

उत्तर—आज की व्यावहारिक व मनोवैज्ञानिक अवस्था को ध्यान में रखते हुए भारतीय मजदूर संघ ने कहा कि हमारा ध्येय कामगारों का स्वामित्व है।

किन्तु पूर्ण विचार करें तो ध्यान में आयेगा कि स्वामित्व की जो कल्पना आज है, वही बनी रही तो स्वामित्व किसी के भी हाथ में रहे, समाज के लिये वह पूर्णरूपेण निरापद नहीं हो सकता। सब सम्पत्ति का सम्पूर्ण स्वामित्व भगवान का ही है। यह सिद्धान्त जब तक नहीं अपनाया जाता, तब तक स्वामित्व की कल्पना के कारण कुछ न कुछ आपत्ति समाज के लिये उत्पन्न होती रहेगी। हाँ, अलग-अलग लोगों के स्वामित्व के कारण निर्मित होने वाले संकटों का स्वरूप अलग-अलग रहेगा। इनमें से सबसे कम संकट उत्पन्न करने वाला, और जिसके द्वारा उत्पन्न संकट अधिकतम सरलता से दूर किया जा सकता है, कामगारों का स्वामित्व है। श्रमिक तथा राष्ट्र—दोनों के हितों का विचार करते हुए हमने यह सिद्धान्त अपनाया है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भगवान का प्रतिनिधित्व समाज करता है, सरकार नहीं।

पूँजीवाद तथा कम्यूनिज्म के अन्तर्गत जो स्वामित्व की पद्धतियाँ हैं, उनसे श्रमिक तथा राष्ट्र को होने वाली हानि सर्वविदित है। कर्मकर के स्वामित्व के द्वारा इन दोनों संकटों से हम बच सकते हैं।

किन्तु इस पद्धति में श्रमिक तथा राष्ट्र को कोई हानि न हो, इसके लिये आवश्यक है कि श्रमिकों के मन का राष्ट्रीयकरण हो। प्रत्येक श्रमिक को यह साक्षात्कार हो कि वह अकेला या पृथक् नहीं है, वह तो सम्पूर्ण राष्ट्रशरीर का ही एक अंग है। सम्पूर्ण राष्ट्र के साथ एकात्मता का भाव न रहा तो इस पद्धति में भी अनेक संकट उत्पन्न हो सकते हैं। इसीलिये हमने कहा, श्रमिकों का—श्रमिकों के मन का—राष्ट्रीयकरण हो।

हमारी इस घोषणा का सामान्य अर्थ तो सबके ध्यान में आता है—यह कि सब श्रमिक देशभक्त, राष्ट्रवादी बनें। राष्ट्र के लिये त्याग करने के लिये स्वयं-

प्रेरणा से तैयार रहें। फिर भी, इसके आर्थिक प्रतिफल आज लोग समझ नहीं पा रहे।

मान लीजिए कि किसी उद्योग में कामगारों का स्वामित्व हो गया और वहाँ के श्रमिक देशभक्त नहीं हैं, पूँजीपतियों और कम्यूनिस्टों के श्रेणीबद्ध अधिकारी-तन्त्र (नौकरशाही) के समान ही व्यक्तिवादी हैं, तो पूँजीपतियों और नौकरशाहों के मन में आज जो अनुचित भावनाएँ हैं वे उनके मन में भी आ सकती हैं। वे भी भौतिकवादी, अतएव केवल अपना ही स्वार्थ देखने वाले हो सकते हैं। वे भी अधिक लाभ के और अधिक धन के पीछे दौड़ सकते हैं। अर्थ यह हुआ कि स्वामित्व का रूप बदल गया, किन्तु मनोरचना पहले जैसी ही बनी रही। ऐसी दशा में, इस अनुचित मनोरचना के फलस्वरूप श्रमिक अथवा 'स्वामी कामगार' समाज की दृष्टि से दोषपूर्ण कार्य कर सकते हैं।

उदाहरण के रूप में हम कुछ सम्भावनाएँ देखें—(१) श्रमिक स्वामी बन गये। वे अपना धन बढ़ाना चाहते हैं। सरल मार्ग है अपने उत्पादन का मूल्य बाजार में बढ़ाना। बाजार तन्त्र के अतिरिक्त इस पर कोई रुकावट नहीं। तो सामान्य जनता को कष्ट होगा। श्रमिक व्यक्तिवादी रहे तो सामान्य जनता के कष्टों की चिन्ता वे क्यों करेंगे ? सामान्य जनता में अन्य उद्योगों के श्रमिक भी सम्मिलित हैं।

(२) मान लीजिए, अर्थ-व्यवस्था में बैंकों या अन्य वित्तीय संस्थाओं की ब्याज दर ऊँची है। परिश्रम करके उत्पादन करने से जितना लाभ मिलेगा, उतना ही पैसा उद्योग की सारी परिसम्पत्ति—भवन, यन्त्र, भूमि आदि सब—बेचकर वह सारा धन बैंक में रख देने पर उसके ब्याज से मिल सकता है तो सारी परिसम्पत्ति बेचकर और धन को बैंक में रखकर ब्याज के रूप में आने वाले पैसे से सारे श्रमिक आराम से अपने-अपने घरों में बैठकर जीवन क्यों न बितायें ? काम करने से भी उतना ही पैसा मिलेगा, ब्याज के रूप में भी उतना ही पैसा मिलेगा। फिर व्यर्थ परिश्रम क्यों किया जाय ?

कोई कह सकता है कि यह परिसम्पत्ति (assets) जो खरीदेगा वह उससे उत्पादन करेगा ही। ये वस्तुएँ निष्क्रिय नहीं पड़ी रहेंगी, उत्पादन के लिये उनका उपयोग होता ही रहेगा।

यह बात सही है, किन्तु अपने घरों में बैठकर ब्याज के सहारे आलस्य का जीवन बिताने वाले श्रमिकों के परिश्रम से—परिश्रम के फल से—देश तो वंचित रहेगा ही। उस मात्रा में देश की हानि होगी, क्योंकि इनके द्वारा हो सकने वाले उत्पादन से देश वंचित रहेगा।

(३) किसी कारखाने के श्रमिकों ने नवीनीकरण या स्वचालन (ऑटोमेशन) का निर्णय लिया। कुल मिलाकर देश की आर्थिक स्थिति को देखते हुए स्वचालन उपयुक्त नहीं है, किन्तु एक-एक उद्योग के श्रमिकों का व्यक्तिगत लाभ उसके

कारण हो सकता है। निर्णय लेने का पूरा अधिकार उन्हीं को है और वे व्यक्तिवादी हैं। वे स्वचालन का निर्णय क्यों नहीं लेंगे ? उससे उनका व्यक्तिगत लाभ ही होगा। किन्तु इसके फलस्वरूप नयी श्रम-शक्ति की सेवायोजन-सम्भावनाएँ उतनी ही मात्रा में कम होंगी और उसी कारखाने के अनेक श्रमिकों की श्रम-शक्ति निष्क्रिय हो जायेगी। यह निष्क्रिय श्रमशक्ति सक्रिय रहती तो देश को लाभ होता। उससे देश वंचित रहेगा। दोनों ओर से हानि होगी।

(४) अधिक लोगों को आजीविका देने वाला औद्योगीकरण ही भारत की आवश्यकता है और आगे भी कई वर्षों तक रहेगा। श्रमिकों के स्वामित्व वाले कारखानों का इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है। ऐसे कारखानों को होने वाले लाभ का आंशिक उपयोग नया कारखाना, नयी वाणिज्य-संस्था खोलने के लिये किया जा सकता है। इस संस्था (फर्म) के पैसे से नयी संस्था खुलेगी, उसमें नये लोगों को काम मिलेगा, देश का उत्पादन भी बढ़ेगा। इस प्रकार नयी व्यापारिक संस्थाएँ प्रारम्भ करने का काम पुरानी कामगारों के स्वामित्व वाली संस्थाएँ कर सकती हैं।

किन्तु, मनोवृत्ति आज जैसी रही तो यह होगा नहीं। नयी संस्था खुलेगी, नये लोगों को काम तथा पैसा मिलेगा; किन्तु इस नयी आय में इस मातृ संस्था के श्रमिकों का भाग (व्यक्तिगत) नहीं रहेगा। उनकी संस्था को भाड़ा मिलेगा, किन्तु व्यक्तिगत रूप से नयी संस्था के उत्पादन तथा आय का इनके लिये उपयोग नहीं होगा। इसलिये, आज की मनोवृत्ति के कारण उनकी स्वाभाविक इच्छा यही होगी कि नयी संस्था खोलने के बदले अतिरिक्त धन अपनी ही संस्था के विस्तार में लगाया जाय। उससे उनका सीधे व्यक्तिगत लाभ बढ़ेगा। वे वैसा ही निर्णय लेंगे। किन्तु इससे इस संस्था के पैसे का उपयोग नये सेवायोजन तथा औद्योगीकरण के लिये नहीं होगा और उतनी मात्रा में देश उस अतिरिक्त पैसे से होने वाले लाभ से वंचित रहेगा।

अब मान लीजिए कि किसी विधान या दबाव के कारण इस संस्था के श्रमिक अपने लाभांश का उपयोग नयी संस्था खोलने के लिये करते हैं। उस अवस्था में इस मातृ संस्था की स्थिति स्वाभाविक रूप से नयी संस्था या संस्थाओं के लिये वित्तीय संस्थान—भाड़ा पाने वाले वित्तीय संस्थान जैसी हो जाती है। इस प्रकार से निर्मित नयी संस्थाओं की संख्या बढ़ी, उनसे भाड़े के रूप में पर्याप्त पैसा आने लगा तो मातृ संस्था के श्रमिकों को अपनी संस्था का उत्पादन चालू रखने की इच्छा या आवश्यकता नहीं होगी। वे स्वयं एक बैठे-ठाले खाने वाला वर्ग बन जायेंगे। अपना काम कम या बन्द कर देंगे। आज जैसी ही मनोवृत्ति रही तो वे ऐसा क्यों नहीं करेंगे ?

किन्तु इसके कारण उनके परिश्रमों के फलों से देश वंचित रहेगा।

(५) आज की मनोवृत्ति के कारण राष्ट्र के आड़े (vis a vis the nation) अनेक समस्याएँ उत्पन्न होंगी। इतना ही नहीं, कामगारों के स्वामित्व वाले कारखाने की नीति में भी अन्तर आयेगा। कारखाने की नीति निर्धारित करते समय श्रमिक यदि निर्मित परिसम्पत्ति पर अन्तिम स्वत्व (दावे) की दृष्टि से सोचेंगे तो नये पूँजी-निवेश की दिशा अलग और कारखाने की दृष्टि से लाभप्रद रहेगी। किन्तु इसके फलस्वरूप होने वाला लाभ सामूहिक स्वामित्व को होगा, जिसके नियन्त्रण का अधिकार व्यक्तिगत श्रमिक को नहीं रहेगा। यह बात आज की मनोवृत्ति से मेल नहीं खाती।

आज की मनोवृत्ति के कारण श्रमिक निर्मित परिसम्पत्ति पर अन्तिम स्वत्व (final claim) से सन्तुष्ट नहीं होगा। वह नये निवेश (इन्वेस्टमेंट) का विचार स्वयं अपनी बढ़ी हुई आगामी आय की परिभाषा में करेगा। केवल इसी पर आधारित निवेश-नीति कारखाने की स्वास्थ्य-वृद्धि के लिये उपयुक्त ही रहेगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उल्टा ही होने की सम्भावना अधिक है।

(६) आज की मनोवृत्ति के कारण केवल राष्ट्र के आड़े आने वाली या संस्था के आड़े आने वाली समस्याएँ उत्पन्न होंगी, इतना ही नहीं है। एक ही उद्योग या कारखाने के स्वामी बने हुए श्रमिकों में भी आन्तरिक, पारस्परिक खींचातानी इस मनोवृत्ति के कारण निर्मित होगी। समानता या सहयोग की भावना नयी रचना का आधार होना चाहिए। किन्तु यदि मनोवृत्ति में अन्तर नहीं आया, श्रमिक आज के ही समान व्यक्तिवादी, स्वार्थी, आत्मकेन्द्रित रहे तो कामगारों का स्वामित्व आने के बाद, किसी भी कारखाने के जो श्रमिक पहले से—आद्य—होंगे वे अपने पश्चात् कारखाने में आने वाले नये भागीदार श्रमिकों के बारे में कैसी भावना रखेंगे? यह विचार उनके मन में आयेगा या नहीं कि 'हम संस्थापक सदस्य हैं, वरिष्ठ हैं, हमारे ही कारण कारखाने की अब तक इतनी प्रगति हुई है? ये बच्चे नये-नये आये हैं। इनकी और हमारी प्रतिष्ठा समान कैसे हो सकती है? इस प्रकार की समानता तो हमारे प्रति अन्याय है। हमारी प्रारम्भिक अगुवाई का तथा वरिष्ठता का यह अपमान होगा।' और, यदि इनका ही विचार रहा तो एक ही कारखाने में वरिष्ठता के आधार पर प्रथम श्रेणी के, द्वितीय श्रेणी के, तृतीय श्रेणी के कामगारों के स्वामित्व निर्मित होंगे कि नहीं? ऐसा ही होगा। समानता तथा सहयोग का वातावरण श्रमिकों का आपस में भी नहीं रहेगा। यदि श्रमिकों की भी मनोवृत्ति, उनके जीवन-मूल्य आज के पूँजीपतियों और नौकरशाहों के समान ही रहे तो ये सारे दोष कामगारों के स्वामित्व के अन्तर्गत भी उत्पन्न हो सकते हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए भारतीय मजदूर संघ ने कहा, "मजदूरों का राष्ट्रीयकरण करो।" श्रमिकों के स्वामित्व की सामाजिक सफलता के लिये श्रमिकों का राष्ट्रीयकरण पूर्व शर्त है। श्रमिकों के मनों का राष्ट्रीयकरण हम कर

सकेंगे, यह समझ कर, इस विश्वास के साथ श्रमिकों के स्वामित्व की हमने माँग की है।

किन्तु जो भी कहा या किया जाये, हमारी यह धारणा है कि जब तक स्वामित्व की अवधारणा पर ही पुनर्विचार नहीं होता, स्वामित्व की कल्पना को पुन: परिभाषित नहीं किया जाता और अन्तिम स्वामित्व भगवान का—अर्थात् उसके प्रतिनिधिस्वरूप समाज का (समाज का ही, न कि राज्य का)—नहीं माना जाता, तब तक इस समस्या का सन्तोषजनक हल निकल ही नहीं सकता। वैसे स्वामित्व अधिकारों की एक गठरी से निर्मित होता है। क्या उत्पादन करना—यह निश्चित करने का अधिकार, व्यक्तिगत उपयोग के लिये लाभ अपने पास रखने का अधिकार, पूँजीगत परिसम्पत्ति को अपने नियन्त्रण में रखने का अधिकार, इधर या उधर करने का अधिकार आदि कई अधिकारों का समूह ही स्वामित्व है। इन अधिकारों को पृथक्-पृथक् भी किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, आज भी निजी क्षेत्र में साधनों (रिसोर्सेज) का उपयोग करने के विषय में निर्णय देने का अधिकार वैधानिक स्वामियों के पास नहीं रहता। प्रत्यक्ष में प्रबन्धकों और नौकरशाहों के पास ही यह अधिकार रहता है। आज भी वैधानिक स्वामियों का अधिकार समान व्यावहारिक स्तर पर कम होता जा रहा है। इस अवस्था में स्वामित्व की कल्पना के विषय में ही पुनर्विचार करने की बात समयोचित रहेगी।

भारतीय मजदूर संघ का प्रतीक

२३ जुलाई, १९५५ को भारतीय मजदूर संघ के भोपाल सम्मेलन में निश्चय किया गया कि भारतीय मजदूर संघ का ध्वज आयताकार **भगवा** (२'×३') होगा और प्रतीक सम्बन्धी निश्चय बाद में परिपक्व विचार-विमर्श के बाद किया जायेगा। तदनुसार, विभिन्न प्रान्तों से प्रतीक सम्बन्धी अनेकानेक सुझावों की बौछार भारतीय मजदूर संघ के केन्द्रीय प्रधान कार्यालय में हुई। यह नितान्त स्वाभाविक था कि प्रारम्भ में ऐसा सोचा गया कि इस प्रयोजन के लिये औद्योगीकरण का बोध कराने वाले किसी उपकरण (औजार) या साधन को चुना जाये। यह तो समय की बयार के अनुरूप था, किन्तु शनैः-शनैः भारतीय मजदूर संघ के श्रमिकों के मन में और अधिक मूल तथा आधारभूत रूप कौंधने लगे। हथौड़ा और हँसिया, चक्र और हल अपने स्थान पर अच्छे हैं। किन्तु श्रमिकों के मन में यह प्रश्न उठा—क्या कारण है कि इस धरती पर रहने वाले सभी प्राणियों में केवल मानव ही ऐसे उपकरणों, यन्त्रों तथा सभ्यता के अन्य भौतिक साधनों का विकास कर सका? भौतिक स्तर पर शेष जीवित प्राणियों से मानव किस बात से भिन्न है? मनन से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानव के पास अनोखी शारीरिक विशेषता है। उसके पास प्रतिरोधक अंगूठा है। मानव कृषि और उद्योग के क्षेत्र में उन्नति कर सका, क्योंकि केवल उसी के पास प्रतिरोधक अंगूठा है। उसके बिना भौतिक प्रगति असम्भव होती। यदि अंगूठे का प्रतिरोध न होता तो हथौड़ा, हँसिया, चक्र और हल कहाँ से आते? मानव का अंगूठा मानव-जाति की समस्त भौतिक तथा वैज्ञानिक उन्नति का आदि और मूल भौतिक कारण है। अतः मतैक्य से सभी इस पक्ष में थे कि मानव के प्रतिरोधक अंगूठे को भारतीय मजदूर संघ का प्रतीक चुना जाये। इस चयन के कारणों की विशद व्याख्या निम्नलिखित उद्धरणों से की गयी है, जो मिन्नी जे० रेनोल्ड्स के 'हाउ मैन कोंकर्ड नेचर' (मानव की प्रकृति पर विजय) से लिये गये हैं—

"मानव की प्रगति और प्रकृति पर उसकी विजय का श्रीगणेश जिस बात से हो सका, वह था 'अंगूठे का प्रतिरोध'। यदि मानव की अंगुलियाँ एक दूसरे से सटी होतीं और समानान्तर दिशा में कार्य करतीं तो वह वस्तुओं को हाथ से इतना कस कर न पकड़ पाता कि वह उनसे काम कर सकता, जैसाकि वह करता

है। उस दशा में यह संदिग्ध रहता कि क्या वह अपने वर्तमान रूप में जीवित रह पाता? अंगूठे के बिना वह उपकरणों (औजारों) को नहीं चला पाता। किन्तु चूँकि उसका अंगूठा अंगुलियों के सामने है, जो सन्तुलनकारी प्रतिरोध करता है, इसलिये वह अस्त्र से अपनी रक्षा कर सका है, अपना सिर ढकने के लिये घर बना सका है, अपने शरीर पर वस्त्र धारण कर सका है, अपने मुँह में अन्न का ग्रास डाल सका है, अपने बनाये हुए साधनों से निर्माण और खुदाई कर सका है।

"यह सच है कि पशुओं में केवल मानव के पास ही अंगूठा नहीं है। सभी पशुओं का किसी न किसी प्रकार का अंगूठा होता है, चाहे वह कितना भी अल्प-विकसित क्यों न हो। कपियों (एप) और सामान्य बन्दरों की अंगुलियों के सामने अंगूठा होता है। मानव की भाँति वे वस्तुओं का प्रयोग कर सकते हैं। वे वृक्षों की शाखाओं से फल तोड़कर वृक्ष के नीचे वाले पशुओं के लिये फेंक सकते हैं। प्रशिक्षण-प्राप्त बन्दर बिल्कुल मानव के से करतब कर सकते हैं। वे छुरी-काँटे से खाना खा सकते हैं। वे प्याले को पकड़कर पानी आदि पी सकते हैं। वे वस्त्र धारण कर सकते हैं, उन्हें उतार सकते हैं। मानव की भाँति अन्य अनेक कार्य कर सकते हैं। वे इस कारण ऐसा कर सकते हैं कि मानव की भाँति उनका एक वास्तविक हाथ और अंगुलियों के सामने अंगूठा होता है। किन्तु उनका अंगूठा इतना छोटा और अल्प विकसित होता है कि मानव की तुलना में उनकी पकड़ नगण्य होती है। अधिकांश पशुओं के अंगूठों का उतना ही उपयोग होता है जितना कि अनेक एशियाई पशुओं के परिग्राही पैरों के अंगूठों का। वे अपने पैरों के अंगूठों से हलकी-फुल्की वस्तुएँ तो उठा सकते हैं, किन्तु वे उन्हें वास्तव में कसकर नहीं पकड़ सकते, क्योंकि पैरों का बड़ा अंगूठा और अंगुलियाँ आमने-सामने नहीं होतीं।

"मानव ने प्रकृति पर विजय का प्रथम पग सम्भवत: उस समय उठाया जब उसने किसी डण्डे या पत्थर का प्रयोग दूसरे पशु को मारने के लिये किया। मानव के पास न तो सिंह या बाघ जैसे सुदृढ़ दाँत या जबड़े हैं, न ही वह अपने से अधिक बलशाली शत्रुओं से बचने के लिये खरगोश या हिरन की भाँति दौड़ सकता है। न वह तेंदुए की भाँति उछल सकता है, न ही सर्प की भाँति डस सकता है। आदिम मानव निर्बल और असहाय था। रक्षा के लिये उसे हथियार की आवश्यकता थी और मानव तथा अन्य पशुओं में सबसे बड़ा भेद यही है कि मानव हथियार गढ़ने वाला पशु है···। प्रगति की ओर मानव का प्रथम पग एक कारगर हथियार का आविष्कार है। आदिकाल से आज तक के उसके विकास का इतिहास उसके शस्त्र-विकास की कहानी है। वास्तव में विज्ञान ने मानव-इतिहास का विभाजन अनेक युगों में किया है। अपने उपकरणों और शस्त्रों के लिये जैसी-जैसी सामग्री का उसने प्रयोग किया, वैसा-वैसा नाम उस युग का पड़ा।"

चिन्तन-प्रक्रिया

हम प्रायः कहते हैं कि हम अनुशासन चाहते हैं। इस पर बार-बार बल भी देते हैं। किन्तु यहाँ यह समझने की आवश्यकता है कि अनुशासन से हमारा आशय क्या है और हम किस प्रकार का अनुशासन अपने संगठन में चाहते हैं। सर्वसाधारण भाषा में कहें तो हम एक प्रकार से परिवार के जैसा अनुशासन चाहते हैं। इस प्रकार के अनुशासन में कोई एक आदेश देने वाला और कोई दूसरा उसका केवल पालन करने वाला नहीं होता। हम चाहते हैं कि हर कार्यकर्ता से सम्पर्क आये और अपनी समझदारी द्वारा उसकी समझ को बढ़ाया जाय। हम क्या हैं ? हमारे विचार क्या हैं ? हमारी भावनाएँ क्या हैं ? कार्यकर्ता की और उसके चारों ओर की परिस्थितियाँ क्या हैं ? इनको समझने और समझाने से कार्यकर्ता की समझ का स्तर ऊँचा होगा और उसकी सही समझ ही अनुशासन की सही 'गारण्टी' है।

यह सब करने में समय लगता है, इसलिये जब तक उसकी समझ नहीं बढ़ती तब तक संगठन के संविधान के अनुसार आदेश देने पड़ते हैं और यह अपेक्षा की जाती है कि इनका पालन होना चाहिए। किन्तु फिर इसी बात को दोहराना आवश्यक है कि अनुशासन की वास्तविक गारण्टी यही है कि हम कार्यकर्ताओं को समझें, कार्यकर्ता हमें समझें और दोनों मिलकर परिस्थिति को समझने का संयुक्त प्रयास करें। कार्यकर्ता यदि केवल ऊपर से आने वाले आदेश का पालन करने वाला यन्त्र या 'मशीन' बन गया है तो यह हमारी असफलता होगी। अच्छा कार्यकर्ता वही है जो अपने मस्तिष्क से सोचे, विचार करे और वही करे जो अनुशासनवश उसे करना चाहिए।

अनुशासन और उसके अपने विचार में कोई अन्तर न रहे, ऐसा हम क्यों कहते हैं ? यह इस कारण कहते हैं कि हम लोग केवल एक छोटा सा समूह या टोली तैयार नहीं करना चाहते। कुछ संस्थाएँ व्यक्ति-प्रधान होती हैं। बस एक व्यक्ति के बड़प्पन के लिये संस्था चलती है—एक नेता होता है, अन्य सब उसके अनुयायी होते हैं। एक आदेश देता है और अन्य सब उसका पालन करते हैं। हम इस प्रकार से व्यक्ति-प्रधान संस्था बनाकर काम नहीं करना चाहते और न ही कोई छोटा सा समूह बनाना हमारा उद्देश्य है। हमारा उद्देश्य है देशव्यापी संगठन खड़ा करना, और वह भी ऐसे व्यक्तियों का संगठन, जिनमें सोचने, समझने, करने और नेतृत्व

प्रदान करने की क्षमता हो। ऐसे ही कार्यकर्ताओं का बहुत बड़ी संख्या में निर्माण करना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है।

'व्यक्तिगत प्रेरणा'

जब मनुष्य में चिन्तन करने की क्षमता, कार्य करने की कर्मठता एवं नेतृत्व प्रदान करने का सामर्थ्य होगा तो उसमें आगे बढ़कर अपनी बुद्धि से काम करने की क्षमता या व्यक्तिगत पहल (स्वप्रेरित कर्तृत्व—इंडीविजुअल इनीसिएटिव) का होना आवश्यक और स्वाभाविक है। इस प्रकार स्व-प्रेरणा से काम करने के गुण के बिना भी संगठन नहीं चल सकता और न ही बढ़ सकता है। अब देखना यह है कि स्व-प्रेरणा (इन्डीविजुअल इनीसिएटिव) की मर्यादा क्या हो। प्राय: देखने में आता है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति इतनी बढ़ जाती है कि अनुशासनहीनता की सीमा तक पहुँच जाती है। इससे संगठन की हानि होती है। फिर प्रश्न उठता है कि अनुशासन कितना होना चाहिए? तो यह इतना अधिक और यान्त्रिक भी नहीं होना चाहिए कि मानसिक बन्धन या जकड़बन्दी (रेजीमेण्टेशन) तक पहुँच जाये और किसी की स्व-प्रेरणा से कार्य करने की प्रवृत्ति (इनीसिएटिव) ही नष्ट हो जाये। और, इतना कम भी न हो कि संगठन ही न चल पाये। हमारा अभीष्ट यह होना चाहिए कि संगठनात्मक अनुशासन तथा स्वप्रेरणा (अथवा इंडीविजुअल इनीसिएटिव) का सुन्दर समन्वय बना रहे और इस प्रकार के कार्यकर्ताओं का बड़ा समूह हम देश भर में चारों ओर फैलाकर देशव्यापी संगठन खड़ा कर सकें।

'सुन्दर समन्वय' सुनने में बड़ा अच्छा और सरल शब्द है, किन्तु समझने में उतना ही कठिन है। दूसरे, किसी भी विचार के शब्द (लैटर) और भाव (स्पिरिट) दोनों को समझना और भी कठिन होता है। किन्तु दोनों को समझे बिना काम नहीं चलता। केवल शाब्दिक अर्थ या आशय भी अधूरा होता है और भाव (या स्पिरिट) का समझना भी अधूरा ही रहता है। यहाँ एक दृष्टान्त देने से बात और स्पष्ट हो जायेगी। मैं हाई स्कूल में था तो हमारी संस्कृत की पुस्तक में एक कहानी थी, जिसका शीर्षक था 'तात्पर्यान् अनवेक्षिणाम् भृत्यानाम्' अर्थात् किसी बात के भाव को न समझने वाले नौकरों की कहानी। कहानी इस प्रकार थी—एक कपड़े का व्यापारी था जो आसपास के गाँवों में पैंठ या साप्ताहिक बाजार में अपना कपड़ा बेचने जाया करता था। उसके साथ उसके नौकर भी जाते थे। एक दिन उसे ज्वर आ गया और वह पैंठ में नहीं जा सकता था। उसके दो नौकर बड़े विश्वसनीय और आज्ञाकारी थे। वे अच्छी प्रकार से जानते थे कि क्या करना है, क्या नहीं करना है। उसने उन दो नौकरों को बुलाया और कहा कि अमुक गाँव की पैंठ में कपड़ा ले जाओ। जितना बिके, बेच आना और पैसे तथा बाकी

कपड़ा लौटा लाना। नौकर जब थैलों में कपड़े लेकर चले और बाहर आकर आकाश की ओर देखा तो कुछ बादल छाये हुए थे और वर्षा होने की सम्भावना थी। व्यापारी ने नौकरों से कहा कि वर्षा से थैलों को बचाना, इन पर बूंद भी नहीं पड़नी चाहिए। नौकर विश्वस्त और आज्ञाकारी तो थे ही। थोड़ी दूर चलने के बाद बूंदाबाँदी प्रारम्भ हो गयी। आसपास कोई घर या पेड़ भी नहीं था जिसके नीचे थैलों को वर्षा से बचा सकते। बेचारे बड़ी चिन्ता में पड़ गये कि क्या करें। एक को स्मरण आया कि स्वामी ने कहा था कि थैलों को पानी नहीं लगना चाहिए और दूसरे को भी उसने इसका स्मरण दिलाया। दूसरा नौकर भी कम विश्वस्त और आज्ञाकारी नहीं था। उसने चट से कहा, "इसमें क्या कठिन बात है। हम थैले को कपड़ों के नीचे रखे देते हैं।" पहले को भी विचार बड़ा अच्छा लगा और दोनों ने झटपट थैलों से कपड़े निकाल कर थैलों के ऊपर लपेट दिये। अब थैले कितनी भी वर्षा होने पर गीले नहीं हो सकते थे। जैसा होना था, वही हुआ। अर्थात् कपड़े गीले हो गये और थैले बच गये। लौटने पर व्यापारी ने उन्हें डाँटा और कहा, "मैं पहले ही सोचता था कि तुम लोग असावधान रहोगे, वर्षा आयेगी और माल भीग जायेगा।" इस पर नौकर बोले—"नहीं, श्रीमान! आपने जैसा कहा था उसका हमने अक्षरशः पालन किया—थैलों को पानी नहीं लगने दिया।" बेचारा व्यापारी क्या करता! अपना माथा ठोककर रह गया। कहने का तात्पर्य यह है कि थैले बच गये और माल अर्थात् कपड़े भीग गये। नौकरों ने स्वामी के आदेश का अक्षरशः पालन किया। परन्तु भाव (स्पिरिट) को नहीं समझा। अतः जब कभी सूक्ष्म विषय आ जाते हैं तो शब्द और शब्द के पीछे के भाव, दोनों पर ही ध्यान देने की आवश्यकता होती है।

स्व-प्रेरणा (इनीसिएटिव) और अनुशासन के सिलसिले में ही एक बात उठती है कि यदि गलती हो जाये तो क्या किया जाय। इस विषय में पुराने लोगों को स्मरण होगा कि प्रारम्भिक अवस्था में हम कहा करते थे कि भाई, हर कार्यकर्ता को गलती करनी ही चाहिए। ऐसा कहना विचित्र-सा दीखता है, पर हम कहते थे कि जो गलती नहीं करेगा वह काम भी नहीं करेगा। अर्थात् गलती न करने का सीधा-सरल मार्ग है काम न करना। इसलिये गलती करने को कहने का आशय होता था काम करने को कहना। जो काम करेगा उससे कुछ गलतियाँ होंगी ही। तो गलती करने की छूट आपको दी गयी थी, किन्तु उसके साथ एक उपबन्ध जोड़ दिया गया था कि एक ही प्रकार की गलती दो बार न की जाय। यदि आज गलती की तो रात को सोचा जाय कि आज किस प्रकार की गलती की और कल किस दूसरे प्रकार की गलती करनी है, क्योंकि एक गलती दोबारा नहीं होनी चाहिए। यह नियम स्व-प्रेरणा की प्रवृत्ति (इनीसिएटिव) के विकास की दृष्टि से बड़ा उपयोगी होता है। साथ ही, जब यह भी कहा गया कि संगठन का अनुशासन बना रहना

चाहिए या उसका पालन होना चाहिए तो किसी को इसमें विसंगति (इनकन्सिस-टेंसी) दिखाई दे सकती है। अर्थात् एक ओर व्यवहार बड़ा उदार (लिबरल) दिखाई देता है और दूसरी ओर उतना ही कठोर। ऊपर से देखने में यह बड़ा विचित्र ही लगेगा। किन्तु ऐसा नहीं है। मैं दो व्यक्तिगत उदाहरण देकर बात स्पष्ट करूँगा—

भोपाल में २३-२४ जुलाई, १९५५ को भारतीय मजदूर संघ की स्थापना के लिये ३०-३५ लोग इकट्ठे हुए थे। वहाँ 'यूनियन' आदि कुछ नहीं थी। हम नागपुर से भोपाल गये थे। संगठन का नाम 'भारतीय श्रमिक संघ' सोचकर आये थे। इतना ही नहीं, पहली बैठक के लिये कुछ सामग्री साइक्लोस्टाइल करके साथ लाये थे। वह सामग्री भी 'भारतीय श्रमिक संघ' के नाम से ही थी। कुल ३०-३५ लोग तो थे ही। सबको पता था कि हमारी रुचि 'भारतीय श्रमिक संघ' के बारे में ही है। सामान्यत: श्रमिक संघ के लिये कोई सांस्कृतिक या भाषाई कठिनाई भी नहीं थी। उस समय न कुछ काम था, न कोई विधान था, न बहुमत का कोई प्रश्न था। जब नाम का विषय हमने छेड़ा तो हमारे नागपुर के साथियों ने खड़े होकर 'भारतीय श्रमिक संघ' नाम का ही समर्थन किया, क्योंकि उन्हें पता था कि हम यही नाम सोचकर आये हैं। दो-चार और लोग भी यही नाम चाहते थे। उधर जब पंजाब के कुछ साथी खड़े हुए तो उन्होंने इस नाम का विरोध किया और पूछने पर कहने लगे कि हम तो 'श्रमिक' शब्द का उच्चारण भी ठीक से नहीं कर सकते। 'श्रमिक' का हमारे इधर 'शर्मिक' हो जायेगा। उनका आग्रह था कि नाम में 'मजदूर संघ' होना चाहिए। वास्तव में बात बहुत बड़ी नहीं थी। थोड़े से ही लोग थे; कुछ ने 'श्रमिक' शब्द पर बल दिया और कुछ ने 'मजदूर' शब्द पर। थोड़ी चर्चा के बाद सबने कहा कि आपने दोनों पक्ष समझ लिये हैं। आप जो निर्णय करेंगे वह हमें स्वीकार होगा। हमारी रुचि श्रमिक शब्द के लिये ही थी और निर्णय देने में हमारे लिये कोई कठिनाई रही हो, ऐसी बात भी नहीं थी। जो ३०-३५ लोग एकत्रित हुए थे उनमें से एक थे श्री कानाईलाल बनर्जी, जो बंगाल से आये थे। बंगाल में 'श्रमिक' शब्द जितना चलता है उतना 'मजदूर' शब्द नहीं चलता। मैंने सोचा कि मैं कुछ न बोलूँ और कहा कि इस बैठक में जो सबसे वृद्ध हैं, वही इसका निर्णय करेंगे—उनका जो निर्णय होगा वह सबको मान्य होगा। वहाँ कानाईलाल बाबू ही सबसे वृद्ध थे। वे बोले, "हमारे बंगाल में श्रमिक शब्द ही अधिक बोला जाता है; परन्तु हमें अखिल भारतीय रूप में काम खड़ा करना है तो अपने पंजाब के भाइयों की सुविधा की दृष्टि से मैं कहूँगा कि 'मजदूर' शब्द ही चले।" बात उल्टी ही हो गयी। हम जो सोचते थे वह नहीं हुआ, और न ही हमने श्रमिक शब्द के लिये फिर आग्रह किया, यद्यपि नागपुर से साइक्लोस्टाइल करके लायी हुई सामग्री में 'अखिल

भारतीय श्रमिक संघ' ही लिखा था। हमने घोषणा कर दी कि ठीक है, कानाई बाबू का निर्णय हम सब मानते हैं। इस प्रकार 'भारतीय मजदूर संघ' नाम ही रखा गया।

इसी प्रकार एक और उदाहरण है। कुछ दिन पहले कुछ प्रमुख लोगों की एक बैठक हुई जिसमें उत्पादकता (प्रोडक्टिविटी) बोनस के बारे में चर्चा हुई। एक कार्यकर्ता ने कहा कि भारतीय मजदूर संघ राष्ट्रवादी होते हुए भी उत्पादकता बोनस का विरोध क्यों करता है ? हमने कहा—यह निश्चय किया गया है कि उत्पादकता बोनस का सिद्धान्त आज की परिस्थिति में हम नहीं मानते, और आगे इस पर चर्चा बन्द कर दी।

ये दोनों दृश्य विसंगत जान पड़ते हैं। एक ओर 'भारतीय श्रमिक संघ' के बारे में अपने मन की बात हमने छोड़ दी, और दूसरी ओर उत्पादकता बोनस के बारे में चर्चा बन्द कर दी, जो बात तानाशाही की द्योतक है। अलग-अलग परिस्थितियों में मेरा व्यवहार अलग-अलग रहा। कोई इसे विसंगति कह सकता है, किन्तु ऐसा नहीं है। संगठन के जीवन में भाँति-भाँति की परिस्थितियाँ आती हैं और उन्हीं को ध्यान में रखकर व्यवहार करना होता है। स्वाभाविक है, विभिन्न परिस्थितियों में व्यवहार भी भिन्न-भिन्न होगा। मुख्य बात है संगठन का लाभ और अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति। जिस प्रकार के उपायों, आचरण अथवा व्यवहार से इनकी सिद्धि होती हो, वे ऊपर से भिन्न दीखते हुए भी ग्राह्य और पालनीय हैं।

भिन्न-भिन्न प्रश्न

बहुत बार और बहुत से कामों एवं संघर्षों के लिये संयुक्त मोर्चे बनाने पड़ते हैं। संयुक्त मोर्चे (यूनाइटेड फ्रण्ट) बनाते समय यह देखना होता है कि विषय (इश्यूज) ठीक हैं कि नहीं। यदि ठीक हैं तो उनके लिये कार्य-विधि निर्धारित करनी होती है। एक बार कार्यविधि के निश्चित हो जाने के बाद इस पर कठोरता से आचरण होना चाहिए। उदाहरण के लिये, दिनांक २० अगस्त, १९६३ को जो पहला 'बम्बई बन्द' हुआ, उसका सुझाव 'हिन्द मजदूर पंचायत' की ओर से आया था जो जार्ज फर्नाण्डीज़ का संगठन है। वह आज है या नहीं, किसी को पता नहीं। पहले वह 'हिन्द मजदूर सभा' में विलीन हो गया था। जार्ज फर्नाण्डीज का वक्तव्य आया कि हिन्द मजदूर पंचायत फिर से जीवित हुई है, किन्तु उस समय हिन्द मजदूर सभा का ही नाम था। जब हिन्द मजदूर पंचायत की ओर से कुछ माँगों को लेकर 'बम्बई बन्द' का विचार आया तो उसमें डांगे के साथ उन्होंने संयुक्त मोर्चा बनाने का भी सोचा। यह नहीं सोचा कि भाई डांगे और समाजवादी मिलकर कोई संघर्ष करते हैं तो

कम्यूनिस्टों का ही प्रभाव बढ़ेगा, जो ठीक नहीं था। 'बम्बई बन्द' होने में कोई आपत्ति नहीं थी; जिन बातों के लिये माँगें थीं वे भी सही थीं। किन्तु हम चाहते थे कि जिस ढंग से सोचा जा रहा है उस ढंग से 'बम्बई बन्द' न हो। 'बम्बई बन्द' से कम्यूनिस्ट पार्टी का प्रभाव किसी भी स्थिति में नहीं बढ़ना चाहिए, ऐसा ही सोचकर हम बम्बई गये और वहाँ समाजवादियों से बातचीत की। उन्हें बताया कि 'बम्बई बन्द' का विचार ठीक है, किन्तु आप लोग डांगे के साथ क्यों जा रहे हैं ? इससे उनका प्रभाव बढ़ेगा, जो न आपके लिये ठीक है न हमारे लिये। बाकी लोगों को साथ में मिलाना चाहिए। उन्होंने प्रश्न किया, बाकी किसको लिया जा सकता है ? एच० एम० एस० से हमारी बातचीत भी नहीं हो सकती। हमने कहा कि हम मध्यस्थ की भूमिका करेंगे। यू० टी० यू० सी०, हिन्द मजदूर सभा (एच० एम० एस०), ये सब हैं और इन सबको मिलाकर संयुक्त मोर्चा बनाया जाये। किन्तु संयुक्त मोर्चा बनाते समय हमसे कहा गया कि जिस भारतीय मजदूर संघ का आप प्रतिनिधित्व करते हैं वह बम्बई में है कहाँ ? बम्बई में भारतीय मजदूर संघ की बहुत थोड़ी सदस्यता थी। इस सबके उपरान्त संयुक्त मोर्चा बना और 'बम्बई बन्द' हुआ। इसमें भारतीय मजदूर संघ का सम्मान भी हुआ। हम डांगे को अलग (आइसोलेट) कर सके। स्पष्ट दिखाई देने लगा था कि २० अगस्त को 'बम्बई बन्द' बिना डांगे के ही होगा। यह स्पष्ट हो जाने पर कम्यूनिस्टों ने १९ अगस्त को वक्तव्य दिया कि वे भी 'बम्बई बन्द' में सम्मिलित होंगे, यद्यपि वे संयुक्त मोर्चे में शामिल नहीं थे। जैसा कि मैंने कहा, हम जो चाहते थे वही हुआ। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय मजदूर संघ की शक्ति थोड़ी होते हुए भी उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी। हाँ, संयुक्त मोर्चा बनाते समय व्यक्तिगत रूप से हमारे लिये या भारतीय मजदूर संघ के लिये जो कुछ अपमानजनक कहा गया, उस सबको पी जाना पड़ा, सहन करना पड़ा।

हमें कार्यसिद्धि के लिये कई बार असम्मानजनक परिस्थिति भी सहन करनी होती है। इस संयुक्त मोर्चे के बारे में सबको यह ज्ञात था कि हमारी शक्ति नहीं है। यह भी हो सकता था कि हम कह देते कि भारतीय मजदूर संघ के साथ सम्मानजनक व्यवहार नहीं हो रहा, इसलिये भारतीय मजदूर संघ संयुक्त मोर्चे में सम्मिलित नहीं होगा। परन्तु ऐसा हमने नहीं किया। क्यों नहीं किया ? इसलिये नहीं किया कि समर-नीति (स्ट्रेटेजी) के नाते हमारा उद्देश्य था कम्यूनिस्टों को अलग-थलग (आइसोलेट) करना। भारतीय मजदूर संघ का प्रभाव इससे कितना बढ़ेगा, इसकी ओर ध्यान कम था; अधिक ध्यान इस ओर था कि कम्यूनिस्टों का प्रभाव न बढ़े, जिससे हमें आगे चलकर कष्ट न हो। इस दृष्टि से उन्हें संयुक्त मोर्चे से बाहर रखना आवश्यक था। यद्यपि संयुक्त मोर्चे में सब घटकों को बराबर या समान स्तर मिलना चाहिए। किन्तु उक्त समर-

नीति की सफलता के लिये यदि भारतीय मजदूर संघ को बराबरी न भी मिली और उसके प्रतिनिधि अपमानजनक स्थिति में भी रहे, तब भी हमने इसे सहन करना स्वीकार किया। तो ऊपर से परस्पर विरोधी दीखने वाले व्यवहार में भी कोई सूत्र रहता है। कार्यकर्ता को इसी सूत्र को ढूँढ़ना चाहिए। बहुत बार हम लोगों ने कहा है कि हमारे कार्यकर्ताओं की द्विनाभ दृष्टि ('बाइफ़ोकल विजन') होनी चाहिए, जिस प्रकार चश्मे में नीचे का भाग पढ़ने के लिये और ऊपर का भाग दूर देखने के लिये होता है। अर्थात् अन्तिम लक्ष्य की ओर देखने की एक दृष्टि और तात्कालिक समस्याओं की ओर देखने की दूसरी दृष्टि। अन्तिम लक्ष्य की ओर देखने की दृष्टि स्पष्ट, अचूक तथा अपरिवर्तनशील रहनी चाहिए और तात्कालिक समस्याओं की ओर परिस्थिति के अनुसार बदलती रहनी चाहिए।

'चिन्तन के आयाम'

भारतीय मजदूर संघ के समूचे दर्शन, कार्यप्रणाली, रीति-नीति और कार्यक्रमों के पीछे गहन चिन्तन है। इस संगठन का काम किसी के मन की तरंग (मूड) पर नहीं चलता। अच्छी तरंग है तो एक निर्णय किया और बुरी मनोदशा है तो दूसरा, ऐसा नहीं है। भारतीय मजदूर संघ की समस्त विचार करने की पद्धति को समझना आवश्यक है। तभी इस प्रश्न का उत्तर मिल सकता है कि किस बात में हमें छूट (लैटिट्यूड) है और किसमें नहीं। और यदि है तो कितनी? इस बात को अच्छी प्रकार से समझने के लिये छोटी-सी रेखा-सारणी (चार्ट—पृ० ५) सहायक होगी। इस रेखा-सारणी में सबसे ऊपर स्थान दिया गया है विचारधारा (आइडियॉलॉजी) को। विचारधारा का अभिप्राय है अधिष्ठान ; अर्थात् हमारे सभी विचारों, कार्यों, भावनाओं और व्यवहार इत्यादि का अधिष्ठान। इसे हमने सबसे ऊपर स्थान दिया है। विचारधारा निरन्तर हमारे ध्यान में बनी रहनी चाहिए। विचारधारा ध्रुव तारे के समान अटल और अडिग है। जिस प्रकार ध्रुव तारे को देखकर जहाज चलाये जाते थे, उसी प्रकार हमारा सारा कार्य-कलाप इसीसे सुसंगत रहना चाहिए। विचारधारा के बाद आता है अन्तिम लक्ष्य (अल्टीमेट गोल)। विचारधारा के अनुरूप ही यह अन्तिम लक्ष्य निर्धारित किया जाता है। एक बार अन्तिम लक्ष्य का निर्णय हो जाने पर इसे भी अटल और अपरिवर्तनशील ही रखना होगा। क्योंकि अन्तिम लक्ष्य बहुत दूर रहता है, अतः उस अवस्था तक पहुँचने का मार्ग भी उतना ही लम्बा होता है। केवल अगला चुनाव जीतकर प्रधानमन्त्री बनना, यह उद्देश्य भी सीमित और छोटा है। अन्तिम लक्ष्य दूर और देर की वस्तु है। संसार की परिस्थितियाँ बड़ी तेजी से बदलती हैं, घटना-चक्र बहुत तेजी से चलता है। परिस्थितियों की नयी-नयी अपेक्षाएँ और चुनौतियाँ सामने आती हैं। अतः, अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग में आने वाले तात्कालिक

लक्ष्यों के लिये भी काम करना पड़ता है। ये तात्कालिक लक्ष्य अन्तिम लक्ष्य के अनुरूप और उसी की ओर ले जाने वाले होने चाहिए और अन्तिम लक्ष्य के प्रकाश में ही इनको निर्धारित किया जाना चाहिए। तात्कालिक लक्ष्यों के बाद बारी आती है नीति (पॉलिसी) की। यह एक सामान्य बात है। श्रमिक-क्षेत्र के कार्य की दृष्टि से जो स्थितियाँ रात-दिन सामने आती हैं, उन्हीं का उदाहरण देकर समझाने से नीति-विषयक विचार स्पष्ट हो सकता है। उदाहरण के लिये— हिंसा और तोड़फोड़ करनी चाहिए या नहीं। इस बारे में अलग-अलग मत हो सकते हैं। कुछ लोग समझते हैं कि हिंसा और तोड़फोड़ से कार्यसिद्धि शीघ्र हो सकती है, इसलिये इन्हें करना ही चाहिए। दूसरा विचार यह हो सकता है कि बिल्कुल भी इनका सहारा नहीं लेना चाहिए। तीसरा विचार यह हो सकता है कि अपवाद रूप में इनका प्रयोग किया जा सकता है। हमने यह नीति निर्धारित की है कि स्वतंत्र और लोकतान्त्रिक देश में हिंसा और तोड़फोड़ का कोई स्थान नहीं है। उपर्युक्त सभी विकल्पों के बारे में सोचने के बाद यह नीति निर्धारित की गयी है।

इसी प्रकार संघर्ष और समन्वय के बीच भी हमें नीति के बारे में सोचना होगा। ऐसे ही वर्ग-संघर्ष (क्लास कनफ्लिक्ट) और वर्ग-सहयोग (क्लास कोलेबोरेशन) के बारे में हम किस पक्ष में हैं, यह भी निश्चित करना होगा। इन दोनों पर विचार करते हुए भी कई विकल्प सामने आते हैं। क्या हम सदैव संघर्ष ही करें ? यदि संघर्ष के बिना, समन्वय से काम निकलता हो तो भी संघर्ष का मार्ग ही चुनें ? एक भूमिका यह हो सकती है। दूसरी भूमिका समन्वयवाद की हो सकती है, कि हम किसी भी स्थिति में संघर्ष नहीं करेंगे। तो इस बारे में हमने यह नीति निश्चित की कि न तो हम कोरे संघर्षवादी हैं, न केवल समन्वयवादी। जहाँ मजदूर का भला संघर्ष से होगा, वहाँ संघर्ष करेंगे ; जहाँ समन्वय से होगा, वहाँ समन्वय करेंगे। किसी एक 'लकीर के फकीर' हम नहीं हैं। जिस प्रकार हमने हिंसा और तोड़फोड़ के बारे में तथा संघर्ष और समन्वय के बारे में नीति निश्चित की है, उसी प्रकार नीति का एक और भी विषय है। वह है सरकार से सहयोग या असहयोग का, अथवा सरकार के समर्थन या विरोध का। कुछ लोगों की नीति है कि सरकार का समर्थन ही करना है, चाहे वह श्रमिकों का भला करे या बुरा। दूसरे लोगों की नीति सदा सरकार से लड़ने की ही रहती है; चाहे वह भला करे या बुरा। दूसरे शब्दों में, या तो पूर्ण सहयोग या पूर्ण असहयोग। इस बारे में भी हमने विशेष नीति निर्धारित की है, वह है—"जितना तुम करोगे, उतना हम करेंगे।" अंग्रेजी में कहा जाये तो 'रिस्पॉन्सिव को-ऑपरेशन'। इसका अर्थ यह है कि जितनी मात्रा में सरकार श्रमिकों के साथ सहयोग करेगी, उतनी मात्रा में श्रमिक सरकार के साथ सहयोग करेंगे; जितनी मात्रा में सरकार श्रमिकों के

साथ असहयोग करेगी, उतनी मात्रा में श्रमिक उसके साथ असहयोग करेंगे; जितनी मात्रा में सरकार श्रमिकों का विरोध करेगी, उतनी ही मात्रा में श्रमिक सरकार का विरोध करेंगे।

इस नीति के अनुसार कब क्या पग उठाना है, यह प्रश्न स्थिति और विषय सामने आने पर सोचना पड़ेगा। जैसे, चीन या पाकिस्तान के आक्रमणों की परिस्थितियाँ आयीं। राष्ट्रीय संकट उपस्थित हुए और सरकार की ओर से आह्वान हुआ कि सारे देशवासी एक होकर सरकार का साथ दें। हमने भी राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए सरकार को पूरा-पूरा सहयोग दिया। हमने स्पष्ट घोषणा की कि हमारी बोनस की माँग पूरी हो या न हो, हम सरकारी प्रयास में हृदय से सहयोग करेंगे। उस समय सौदेबाजी का भाव हमने नहीं दिखाया। फिर आया 'अनिवार्य सेवा अधिनियम' (एसेंशियल सर्विसेज मैंटीनेंस एक्ट) और 'राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम' (नेशनल सिक्युरिटी एक्ट)। इस अवसर पर हमने डंके की चोट कहा कि हम पूरी शक्ति से सरकार से लड़ेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकार से सहयोग और असहयोग, दोनों के प्रसंग आये और हमने सहयोग भी किया तथा असहयोग भी। दोनों प्रसंगों में हमारा व्यवहार अलग-अलग है, किन्तु नीति एक ही है।

समर-नीति

यदि यह निश्चय हुआ कि सरकार से लड़ना है, तो प्रश्न उठता है कि कैसे लड़ा जाय? क्या भारतीय मजदूर संघ अकेला लड़े? क्या उसके पास इतनी शक्ति है कि वह लड़ाई को अकेला सम्भाल सकेगा? या नहीं? भारतीय मजदूर संघ अकेला लड़े, यह वांछनीय स्थिति है। यदि अकेला नहीं लड़ सकता तो स्वाभाविक है कि उसे दूसरों के साथ मिलकर लड़ना होगा। भारतीय मजदूर संघ समूचे शासन और स्वामी (मालिक) वर्ग से अकेला अभी नहीं लड़ सकता। उस अवस्था के आने में अभी देर है। किन्तु परिस्थितियाँ किसी की प्रतीक्षा नहीं करतीं। संघर्ष की परिस्थिति यदि आज है, तो हम शक्ति-संचय की प्रतीक्षा में कल तक हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे रह सकते। हमें आज ही जूझना पड़ेगा और इसके लिये दूसरों का सहयोग लेना या देना पड़ेगा। यही बात लागू होती है एक मंच या संयुक्त मोर्चा (यूनाइटेड फ्रण्ट) बनाने के बारे में। इस बारे में निर्णय को हम समर-नीति या रणनीति (स्ट्रेटेजी) का नाम देंगे और आप देखेंगे कि रेखा-सारणी (चार्ट) में नीति के बाद समर-नीति को स्थान दिया गया है। संयुक्त मोर्चा बनाना या न बनाना यह समर-नीति का प्रश्न है। हम संयुक्त मोर्चा बनायें और दूसरों को उसमें सम्मिलित करें; इसी प्रकार दूसरे संयुक्त मोर्चा बनायें, तो हम उसमें सम्मिलित हों या न हों; ये सब बातें परिस्थिति और संस्था का तथा मजदूरों का

हित-अहित देखकर निश्चित करनी होती हैं। उदाहरण के लिये, पश्चिमी बंगाल में वामपंथी मोर्चे का शासन है। इस मोर्चे में सम्मिलित बहुत से दलों के श्रमिक-संघ हैं। उन संघों के संयुक्त मोर्चे होते हैं। भारतीय मजदूर संघ उनमें सम्मिलित नहीं है। कई बार हम संयुक्त मोर्चों में सम्मिलित होते हैं, कई बार उनका विरोध करते हैं।

रणयुक्ति (टैक्टिक्स)

समर-नीति निश्चित करने के बाद समय पर जो परिस्थितियाँ और प्रश्न सामने आते हैं उनमें कैसे व्यवहार किया जाय, यह रणयुक्ति (टैक्टिक्स) का प्रश्न है। मान लीजिए कि रणनीति के नाते संयुक्त मोर्चा बनाना है अथवा राष्ट्रीय अभियान समिति (नेशनल कैम्पेन कमेटी) का निर्माण करना है, यह रणनीति है। उसके अन्तर्गत रणयुक्ति का प्रश्न होगा—यह कि त्रिपक्षीय सम्मेलन हो रहा है, उसमें हमें जाना है या नहीं। अलग-अलग समय पर हमने अलग-अलग मत प्रकट किया। कभी हमने ऐसे किसी मंच पर जाने, वहाँ बोलकर वापस आ जाने की सलाह दी, कभी हमने अपनी बात पर अड़े रहने की सलाह दी। संगठित श्रमिकों के प्रतिनिधियों को हमने सदा ही यह सलाह दी कि अपनी बात कहो; मान ली जाये, तो ठीक है; नहीं मानी जाती, तो भी ठीक है। श्रमिकों की एकता बनी रहनी चाहिए। हम विशाल हृदय को लेकर काम करने वाले लोग हैं।

'कार्यक्रम'

ऊपर कुछ परिस्थितियों और कुछ मंचों का नाम लेकर मैंने बताया है और इनमें क्या करने, क्या न करने, भाग लेने या भाग न लेने अथवा इन्हीं जैसी अन्य परिस्थितियों में क्या किया गया या क्या करना चाहिए, इस बात को स्पष्ट किया है। एक बार अपनी रणयुक्ति (टैक्टिक्स) या चालें निश्चित हो गयीं, तो उनके अनुसार कार्य या कार्यक्रम का प्रश्न उठता है। स्पष्ट है कि ये कार्यक्रम अपनी रणयुक्ति के अनुकूल होंगे, उनको हानि पहुँचाने वाले या उनके प्रतिकूल नहीं होंगे। कार्यक्रमों का नाम लेने या गिनाने की आवश्यकता नहीं है। रणयुक्ति के अनुसार जो चाहे हम निश्चित कर सकते हैं। अब हम फिर अपनी रेखा-सारणी (चार्ट) की ओर देखें और नीचे से ऊपर की ओर चलें। हम जो कार्यक्रम निश्चित करें, वे रणयुक्ति के प्रतिकूल न हों; जो रणयुक्ति निश्चित करें वह समर-नीति के अनुकूल हो, इसके विपरीत न हो; जो समरनीति निर्धारित करें वह सामान्य नीति के अनुरूप और उसकी पोषक हो; सामान्य नीति तात्कालिक लक्ष्यों की पूर्ति की ओर ले जाने वाली हो, किसी भी प्रकार उसके मार्ग में बाधक न हो। ये तात्कालिक लक्ष्य अन्तिम लक्ष्य की ओर हमें अग्रसर करने वाले हों और अन्तिम लक्ष्य अपने अधिष्ठान अथवा विचारधारा की ओर उन्मुख हो।

विचारधारा

इस प्रकार हमने अपने अन्तिम लक्ष्य से कार्यक्रम तक और बीच की सभी अवस्थाओं और चरणों का विचार किया। इन सब बातों के बारे में निर्णय करना एक ही विचार के अलग-अलग पक्ष हैं। सब एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। कल के जलूस में सम्मिलित होना है या नहीं, यह प्रश्न भी कार्यक्रम से लेकर विचार-धारा तक सारी बातों के विचार से बँधा हुआ है, अपने में कोई एक अलग वस्तु नहीं। इसी प्रकार छोटी-सी प्रवेश-द्वार बैठक (गेट मीटिंग) का सम्बन्ध भी ऊपर की विचारधारा तक जुड़ा हुआ है। तो आइए, अब हम अपने इस अधिष्ठान अर्थात् विचारधारा पर विचार करें। अपनी विचारधारा को किसी एक शब्द में बाँधना बड़ा कठिन है। फिर भी बोलने की सुविधा के लिये पंडित दीनदयालजी द्वारा प्रयुक्त शब्द 'एकात्म मानववाद' (इंटीग्रल ह्यूमैनिज्म) का मैं यहाँ प्रयोग करना चाहूँगा। हमारी विचारधारा बहुत विस्तृत है। विविधता में एकता का साक्षात् करने की इसमें अपार क्षमता है। हमारी महान और समृद्ध संस्कृति से यह उपजी है। इस कारण भी इसे दो-एक शब्दों में बाँधना बहुत कठिन हो जाता है। आर्नाल्ड टायनबी जैसे व्यक्ति ने कहा है कि संसार आज विनाश के कगार पर खड़ा है। परमाणु शस्त्रास्त्रों का भण्डार बढ़ता जा रहा है। संसार को बचाने का काम भारत ही कर सकता है। उनका कहना है कि भारत विश्व की एक छोटी प्रतिकृति है। विश्व में जितने प्रकार के भेद हैं, वे सारे के सारे हिन्दुस्थान में भी हैं। किन्तु हिन्दुस्थान की संस्कृति में एक क्षमता है, अनेकताओं में एकता अथवा भेदों में अभेद 'यूनिटी इन द मिड्स्ट आफ डाइवर्सिटीज'। अतः इन भेदों की विविधता के पीछे एक बृहद् एकात्मता का साक्षात्कार कराने वाली यह जो संस्कृति है, उसके आधार पर भारत अपनी समस्याएँ सुलझाने में तो समर्थ है ही, संसार भर की समस्याएँ सुलझाने और किस प्रकार अपने भेदों, विरोधों और झगड़ों को सारा संसार दूर करे, इसका व्यावहारिक मार्गदर्शन करने का भी सामर्थ्य रखता है। विश्व-शान्ति का मार्ग भारतीय संस्कृति ही दिखा सकती है।

तो विश्व को सुख-शान्ति और मर्यादा का सन्देश हमारी यह भूमि और हमारी यह संस्कृति ही दे सकती है। इसी भूमि को परम वैभव तक ले जाना हमारा चरम लक्ष्य है।

यह लम्बा ध्येय एकाएक प्राप्त नहीं हो सकता। निकट भविष्य में प्राप्त करने की वस्तु क्या है? वह है चेतना-स्तर (लेवल आफ कॉनशसनेस)। समाज का चेतना-स्तर जितना ऊँचा होगा, हम उतना ही अपने ध्येय के निकट पहुँचेंगे। हमें ऊँचे चेतना-स्तर के लोगों का संगठन बनाना और बढ़ाना है। यह सभी जानते हैं कि सरकार के भरोसे बहुत कुछ नहीं हो सकता। सरकार राजदण्ड के द्वारा शायद थोड़ा बहुत कर सकती है। शेष सारा कुछ स्वायत्त और राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित

जन-संगठन ही कर सकते हैं। ऐसे जन-संगठन वैकल्पिक सत्ता-केन्द्र (आल्टरनेट पावर सेण्टर) भी बन सकते हैं। राष्ट्र-चेतना से प्रेरित जन-संगठन राज्य-सत्ता पर भी अपना प्रभाव और दबाव डाल सकते हैं, और इस प्रकार राज्य-सत्ता पर एक सशक्त नैतिक अंकुश रह सकता है। राष्ट्रीय चेतना से युक्त जन-संगठनों की भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में आवश्यकता है। इसी दृष्टि से भारतीय मजदूर संघ, मजदूर क्षेत्र में काम कर रहा है। इस प्रकार के जन-संगठनों का निर्माण हमारा एक तात्कालिक लक्ष्य है। हर एक जन-संगठन अपने सदस्यों के हितों की रक्षा करे; उनकी शक्ति का रचनात्मक उपयोग राष्ट्र-निर्माण के लिये हो, ऐसी व्यवस्था करे और सरकार के साथ, उसकी नीतियों को देखकर, सहयोग या असहयोग करे। इस प्रकार स्वयं एक वैकल्पिक शक्ति-केन्द्र बने और ऐसे सभी शक्ति-केन्द्रों के साथ अन्तिम लक्ष्य की ओर आगे बढ़े। यह हमारा एक तात्कालिक लक्ष्य है।

'एकात्म मानववाद' वह सूत्र है जो भारत को परम वैभव तक ले जाने के उच्च और पुनीत ध्येय को एक प्रवेश-द्वार बैठक जैसी छोटी सी बात से जोड़ता है।

एकात्म मानववाद एक विचार है। इस समग्र विचार को ध्यान में रखकर सभी छोटी-बड़ी बातों के बारे में निर्णय लेना होगा। एक में से एक निर्णय निकलता है, इसीलिए ऊपर विचारधारा (आइडिऑलाजी) से नीचे कार्यक्रम (प्रोग्राम) तक का क्रम है। इसका प्रत्येक सोपान दूसरे से जुड़ा हुआ है। यह हमारा विचार नहीं, विचार करने की शैली है। विचार तो अलग-अलग हो सकते हैं। विचार-भेद और मत-भेद कई कारणों से हो सकते हैं। स्वप्रेरणा से मनुष्य कितना काम करेगा, उसके लिये पूरी छूट या स्वतन्त्रता रहे या उसे अनुशासन में कितना बाँधा जाय, यह बात भी पहले उठ चुकी है।

कई कारणों से मतभेद हो सकते हैं। हाँ, विचारधारा के विषय में स्वतन्त्रता नहीं है; जिनको हमारी विचारधारा स्वीकार है, वही हमारे साथ आयें। कोई कहता है 'मुझे मार्क्सवाद अच्छा लगता है, भारतीयता आदि सब झूठ है।' तो हम कहेंगे, 'मत आओ। कल आना। या पंक्ति में लगो। यह निश्चित है कि आज नहीं तो कल आओगे। जाओगे कहाँ?' तो इस बारे में कोई समझौता नहीं, कोई छूट नहीं।

इस राष्ट्र को परम वैभव तक ले जाना चरम लक्ष्य है। इसमें समझौता या छूट कदापि नहीं। ऐसा है तो रूस के पिछलग्गू बनें या अमेरिका के, यह विचार आ ही नहीं सकता। अपने राष्ट्र भारत को प्रथम श्रेणी का राष्ट्र बनाना है तो हम किसी के भी अनुगामी या अनुयायी कैसे रह सकते हैं? अंग्रेजों ने और रूस ने क्या सारे संसार का नेतृत्व करने का ठेका लिया है? हाँ, अन्तिम लक्ष्य निश्चित होने के बाद आज की परिस्थिति के अनुकूल तात्कालिक लक्ष्य क्या हो, इसके बारे में चर्चा

होनी चाहिए। और चर्चा होकर ही निश्चय हुआ है कि भारतीय मजदूर संघ बनाना, उसको बढ़ाना, सामयिक या तात्कालिक लक्ष्य है। यह बात खुलकर चर्चा और वाद-विवाद (बहस) होकर ही निश्चित हुई है। भारतीय मजदूर संघ बनाने और उसे बढ़ाने में कितनी बाधाएँ आयीं, आप लोगों को पता होगा। शायद बहुतों को पता है और बहुतों को नहीं है। जिस समय जनता पार्टी आयी शासन में, तो समाजवादियों (सोशलिस्टों) ने अत्यधिक दबाव डाला। पराये लोगों के द्वारा तो दबाव डाला ही गया, हमारे मित्रों के द्वारा भी दबाव लाया गया कि भारतीय मजदूर संघ, हिन्द मजदूर सभा और हिन्द मजदूर पंचायत, तीनों मिलकर एक संगठन बनाया जाय। साथ ही लालच भी दिखाया गया। मुझसे कहा गया कि 'ठेंगड़ी जी ! यदि एक दल हो जायेगा तो शक्ति बढ़ जायेगी और इस संयुक्त शक्ति का नेता आपके अतिरिक्त कोई दिखाई नहीं देता। तो आप छोटे समूह के साथ बढ़ना चाहते हैं या बड़े समूह के साथ ?' इस पर मैंने बताया कि 'भाई, मैं नेता हूँ कहाँ ? भारतीय मजदूर संघ ने निकाल दिया है, किसी पद पर रखा नहीं है।' इस पर कहने वाले व्यक्ति को, जो मन्त्री थे, थोड़ा आश्चर्य हुआ। पूछा, "यू आर नॉट आफिस बेअरर ऑफ बी. एम. एस. ?" (आप भारतीय मजदूर संघ के पदाधिकारी नहीं हैं ?) कहने लगे, 'तो बी. एम. एस. वाले आपकी बात सुनते कैसे हैं ? क्योंकि हमारी एच. एम. एस. में तो जनरल सेक्रेटरी की बात भी मानी जायेगी, इसकी कोई गारण्टी नहीं।' यहाँ हमारे भारतीय मजदूर संघ में कोई पूछता ही नहीं कि कौन किस पद पर है। सबके सामने तात्कालिक लक्ष्य स्पष्ट है। भारतीय मजदूर संघ के समान ध्येयनिष्ठा, कुछ रीति-नीति, कुछ आदर्श, कुछ सिद्धान्त और आधारभूत मान्यताओं को लेकर चलने वाला संगठन छोटा भी रहे तो भी कोई बुरी बात नहीं। किन्तु आधारभूत मान्यताएँ, रीति-नीति, मर्यादा, ध्येय, आदर्शवाद, इन सब बातों को लेकर चलने वाले समूह या टोली को हमें बढ़ाना है। केवल संस्था का आकार, सदस्यता, फैलाव आदि नहीं बढ़ाना है। हमें गुणवत्ता (क्वालिटी) भी बढ़ानी है। गुणवत्ता को खोकर हम आगे बढ़ना नहीं चाहते। गुणवत्ता को बनाये रखते हुए संख्या बढ़ानी है। पानी में चीनी डाल कर शरबत को बढ़ाना है। केवल पानी बढ़ाकर फीका शरबत बढ़ाना हमारा उद्देश्य नहीं। चीनी की मिठास को बनाये रखते हुए पानी बढ़ाना है। गुणवत्ता बनाये रखते हुए संख्या बढ़ानी है। हिन्द मजदूर सभा, हिन्द मजदूर पंचायत आदि के साथ जाने से शरबत में केवल पानी ही पानी बढ़ेगा, मिठास समाप्त हो जायेगी। तो तात्कालिक लक्ष्य अर्थात् भारतीय मजदूर संघ को बनाना और बढ़ाना। इसके नीचे नीतियाँ, फिर समर-नीति, समर-युक्ति और अन्त में कार्यक्रम। यह जो एक चिन्तन-क्रम है, उसमें से, जैसा मैंने पहले कहा है, अन्तिम लक्ष्य के बारे में विवाद के लिये स्थान नहीं। नीति के बारे में चर्चा अवश्य हो सकती है, समर-नीति के बारे में चर्चा हो

सकती है। परन्तु नीति के बारे में भी एक बात है। भारतीय मजदूर संघ को तोड़ना है, यह चर्चा का विषय नहीं हो सकता। किन्तु संयुक्त मोर्चा हो या न हो, यह चर्चा का विषय है। एक बार पूरी चर्चा करने के पश्चात् निर्णय हुआ कि संयुक्त मोर्चा बनाना है, तो वह निर्णय सभी का है, यह सबको समझना चाहिए। यह मर्यादा है। हो सकता है चर्चा या वाद-विवाद में कुछ लोगों ने कहा हो कि ऐसा मोर्चा नहीं चाहिए। दूसरे लोग राष्ट्रद्रोही हैं; इनके साथ हम कन्धे से कन्धा क्यों लगायें ? इस पर भी यदि रणनीति के नाते मोर्चे के पक्ष में निर्णय हुआ तो फिर जिन्होंने इसका विरोध भी किया होगा उन्होंने भी 'यह हमारा ही निर्णय है', ऐसा समझकर चलना और मानना होगा। यह भी नहीं कि थोड़ी सी गड़बड़ हुई तो कहना प्रारम्भ कर दिया कि 'मेरी सुनता ही कौन है ! आप लोग तो बड़े बुद्धिमान हैं, चतुर हैं, मैं तो पहले ही कहता था।' इस प्रकार की शिकायत और भाषा फिर नहीं होनी चाहिए। ये छोटे मन-मस्तिष्क की बातें हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। तो नीति या समर-नीति और रणं-युक्ति के बारे में चर्चा हो तो वहाँ मतभेद खुलकर प्रकट हो सकते हैं। किन्तु पूर्णतः चर्चा, वाद-विवाद होने के पश्चात् जब निर्णय होता है तो अपने निजी मत को त्यागना ही होगा और जिसका आप विरोध भी करते हैं उसे भी अपना ही मत मानकर बहुमत का पूरा-पूरा आदर करना होगा। अर्थात् सबका निर्णय ही अपना निर्णय है। उसका पालन करने का पूरी निष्ठा से प्रयास होना चाहिए।

इस प्रकार हमने देखा कि भारतीय मजदूर संघ की कार्य-प्रणाली में विचार और कर्म का स्वातन्त्र्य कितना और कहाँ तक है तथा मर्यादाएँ कहाँ आती हैं।

१३ अक्टूबर, १९८३

[भा० म० सं० (उत्तरांचल)
अभ्यास वर्ग, लुधियाना]

संदेश

एक आदर्श आदर्शवादी का सभी आदर्शवादियों के नाम

आपातकाल में भारतीय मजदूर संघ की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक बम्बई में होने वाली थी। उस समय तक श्री ठेंगड़ी ने भारतीय मजदूर संघ से त्याग-पत्र दे दिया था। उन्हें लोक-संघर्ष समिति के सचिव का कार्यभार सँभालना था जिसके दूसरे सचिव श्री रवीन्द्र वर्मा को भी बन्दी बना लिया गया था। ठेंगड़ी जी के बाद श्री रामनरेश सिंह जी उपाख्य 'बड़े भाई' भारतीय मजदूर संघ के महासचिव बने। उन काले दिनों में राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक की पूर्व-सन्ध्या पर श्री ठेंगड़ी ने यह पत्र नव-निर्वाचित महासचिव को लिखा था।

प्रिय बड़े भाई,

आपने मुझसे कहा है कि मैं राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक की पूर्व-सन्ध्या पर अपना सन्देश भेजूँ। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं इस योग्य नहीं हूँ कि आदर्शवादियों को अपना सन्देश दूँ। किन्तु इस अवसर पर मैं आदर्शवादियों के नाम टेरेंस मैक स्वाइनी का सन्देश भेज रहा हूँ जो स्वयं एक आदर्श आदर्शवादी थे।

राजनीति के रंग में सराबोर वर्तमान वातावरण में अवसरवादिता और स्वार्थ-सिद्धि का चहुँओर बोलबाला है। हो सकता है कि ऐसे वातावरण में माँ का सन्देश ग्रहण करने वाले हम अपने आपको आत्मसंशयी, भग्नमना और निराश अनुभव करें। इन परिस्थितियों में टेरेंस मैक स्वाइनी का स्वस्थ परामर्श सभी आदर्शवादियों के लिये बड़े काम का सिद्ध होगा—

"नये उत्साही जनो ! झण्डे तले एकत्र होने वाले नवागन्तुको ! निराशा की उस घड़ी से सावधान, जो सर्वाधिक उत्साही, सर्वाधिक निर्भय और बलवान को भी ग्रस लेती है।

"हमारा कार्य ऐसे लोगों का कार्य है जो उन उतार-चढ़ावों को झेलते हैं जो समस्त मानवीय प्रयास के चारों ओर मँडराते रहते हैं, और भर्ती किये गये प्रत्येक जन को संघर्षों एवं काली घड़ियों का डटकर सामना करना होगा। निराशा तो उस डरावने, ठण्डे, काले कुहरे की भाँति आ धमकती है जो हर सुन्दर वस्तु और आशा की प्रत्येक किरण को ग्रस लेता है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं—संभवतः

निर्बल शरीर, जिसे घोर मानसिक श्रम ने जर्जर कर दिया हो ; सम्भवत: वर्षों के प्रयास की स्मृति, जो विस्मृति और व्यर्थता के भँवर द्वारा निगली जाती दिखायी दे रही हो; संभवत: अपने पक्ष के ऐसे लोगों से सम्पर्क, जिनकी उपस्थिति एक पहेली हो, जो चरित्रहीन हों और जिन्हें उद्देश्य की महानता का लेशमात्र बोध न हो, जिनके घटिया, तुच्छ और धूर्ततापूर्ण द्वेष-कर्मों से आपके प्राण सिहर उठते हों—जबकि आप सोचते हों कि जो इतने सुन्दर ध्वज को प्रणाम् करते हैं जितना कि हमारा है, उन्हें तो स्वत: वीर, स्पष्टवक्ता और उदार होना चाहिए; सम्भवत: प्रत्यक्षत: शत्रु की विराट् संख्या और उन सहस्रों लोगों का निरुत्साह, जो उन्मत्त होकर स्वाधीनता का स्वागत करने को आतुर हों, पर जो अब निराशा के नद में आकंठ डूबकर एक ओर खड़े हों; तथा इस सब पर 'करेला और नीम चढ़ा'—अपने उस आत्मतुष्ट व्यावहारिक मित्र की वाणी, जिसके पास इस घड़ी के लिये परमावश्यक उच्च आवेग और अविकारी सिद्धान्त के लिये व्यंग्य की बर्छी के अतिरिक्त कुछ न हो। स्वाधीनता के सैनिक को ऐसे अनुभवों की बाढ़ को पार करना होगा। किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि जब-जब ऐसी घड़ी आती है तो ऐसे घोर काले आकाश में अंधकार को चीरने वाला कोई तेजोमय नक्षत्र भी उदय होता है। वे, जो कभी-कभी युद्ध में थकान का अनुभव करते हैं, स्मरण रखें कि जब रणभूमि में केवल एक या दो ही योद्धा रह जायें तो हो सकता है कि उन्हें कोई सार्थकता न दीख पड़े।

"फिर भी, उन्हें अपनी निष्ठा पर अडिग रहना चाहिए और उनकी संख्या बढ़ती जायेगी ; सत्य का प्रेम संक्रामक बनकर फैलता है। जब प्रगति अवरुद्ध हो जाये तो वर्तमान की मत सोचो, वरन् इस बारे में सोचो कि हमने क्या पाया था, क्या कुछ बचा है और क्या कुछ हम अभी प्राप्त कर सकते हैं। यदि कुछ लोग ढीले पड़ गये हैं और थोड़ी अवसरवादिता दिखाने लगे हैं तो अपनी ओर से और अधिक दृढ़ता से उनके प्याले में अपनी थोड़ी सी सहानुभूति उड़ेल दो। लड़ते-लड़ते वीरगति प्राप्त करना कठिन कार्य है, पर सतत संघर्ष का जीवन जीना और भी दुष्कर है। उदार वृत्ति वाले अधिकांश लोग सर्वोच्च घड़ी के लिये अपना पूरा साहस बटोर कर लक्ष्य के लिये मर मिटेंगे, किन्तु बारम्बार और बिना चेतावनी के उस सर्वोच्च घड़ी के लिये साहस जुटाते रहना महान व्रत के लिये जीवन का दायित्व है। और इस महान व्रत की जो यह प्राणों को सुखाने वाली कष्टसाध्य अनिवार्यता है, उसी का प्रभाव है कि अनेक लोग असफल हो गये हैं। हमें ऐसे व्यक्ति चाहिए जो यह हृदयंगम कर सकें कि जीने में भी उतने ही साहस और वीरता की आवश्यकता है, जितनी कि मरने में। किन्तु हमारे युग में इस सपाट युक्ति ने संभ्रम पैदा कर दिया है: 'अब आपसे यह नहीं कहा गया है कि आप आयरलैंड के लिये मरें, वरन् कहा गया है कि आप उसके लिये जियें।' इसमें यह आग्रह नहीं है कि जीने का लक्ष्य होगा

सच्चा और साहसपूर्ण आदर्श। कायरों की भाँति गिड़गिड़ाकर जीना कोई जीना नहीं है। यदि ऐसे घटिया जीवनदर्शन की बात बाहर फैली तो हम शीघ्र ही देखेंगे कि यह देश गीदड़ों का देश बन जायेगा, जिसमें न तो आपदा से दृढ़तापूर्वक लड़ते हुए जीने की और न ही मरने की शक्ति रह जायेगी।

"ये सभी परिस्थितियाँ निराशा की घड़ी को जन्म देती हैं। और हो सकता है कि ऐसी घड़ी में, भावशून्यता और विश्वासघात के वातावरण में, निष्ठुर मित्रों और सक्रिय शत्रुओं के बीच, आपका तन जर्जर हो जाये, आप किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जायें, आप पुराने महान व्रत का समर्थन करते समय ऐसा अनुभव करें कि आपकी वाणी तो अरण्यरोदन है और हो सकता है ऐसा अवसर आये कि रक्त फिर उबलने लगे, विचारों में फिर तड़प आ जाये और सोचने पर विवश करे कि किस प्रकार एक वाणी, जो सहस्रों वर्ष पूर्व अरण्यरुदन प्रतीत होती थी, आज सशक्त और प्रेरक है, जब कि अवसरवादी 'व्यावहारिक' जनों की वाणी काल के गाल में समा गयी।

"इस सुन्दर दंभ के गर्भ में कि हम सहजता से उनका पालन कर सकते हैं, सुन्दर सिद्धान्त निहित नहीं है, वरन् इस पूर्ण सजगता के गर्भ में निहित है कि सम्भवतः हम उनसे दूर नहीं रह सकते···मुट्ठी भर सत्यव्रती लोग अपयश का टीका लगाने वाली भीड़ से अधिक प्रभावशाली होते हैं।"

—टेरेंस मैक स्वाइनी

□□□